कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय, वाराणसी।

हमारी संस्कृति के प्रतीक

लेखक
महादेवशास्त्री जोशी

अनुवादक
विष्णुदत्त 'विकल'

१९८०

सस्ता साहित्य मँण्डल प्रकाशन

प्रकाशक

यशपाल जैन

मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल

एन ७७, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली

●

पहली बार : १९८०

मूल्य : रु० ६.००

●

मुद्रक

युवा मुद्रण

७, न्यू वजीरपुर इण्डस्ट्रियल कॉम्प्लैक्स, दिल्ली-११००५२

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक में भारतीय संस्कृति के प्रमुख तेरह प्रतीकों का परिचय कराया गया है। अर्द्धनारीश्वर, ओंकार, कमल, गजलक्ष्मी, त्रिमूर्ति, धर्मचक्र, नटराज, बोधिवृक्ष, सरस्वती, स्वस्तिक आदि-आदि प्रतीक भारतीय लोक जीवन के साथ अभिन्न रूप में जुड़े हुए हैं। यद्यपि आज उनकी उपासना प्रायः कर्मकाण्ड के रूप में की जाती है, तथापि यदि हम उनके गूढ़ार्थ में गहरी डुबकी लगावें तो निश्चय ही बड़े मूल्यवान रत्न हमारे हाथ लग सकते हैं।

प्रत्येक संस्कृति में अनेक प्रतीकों का निर्माण किया जाता है। यह कहने में तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है कि इन प्रतीकों में उस संस्कृति की आत्मा के दर्शन होते हैं। जिस प्रकार फल में सम्पूर्ण वृक्ष का विस्तार समाया रहता है, उसी प्रकार प्रतीकों में अनन्त अर्थ समाविष्ट रहते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि उन अर्थों का हम सूक्ष्म अनुशीलन करें और उनसे अपने जीवन को समुन्नत करने की प्रेरणा प्राप्त करें।

भारतीय संस्कृति में सैकड़ों प्रतीक पाये जाते हैं। इन प्रतीकों की जानकारी से जहां ज्ञानवर्द्धन होता है, वहाँ अपनी उस संस्कृति को समझने में भी सहायता मिलती है, जिसने किसी युग में सारे संसार को महान संदेश दिया था। इस पुस्तक में वर्णित प्रतीकों का परिचय पढ़ते-पढ़ते भारतीय संस्कृति के अनेक उज्ज्वल पृष्ठ हमारी आंखों के सामने खुल जाते हैं।

यह पुस्तक मराठी के विख्यात लेखक श्री महादेवशास्त्री जोशी की लोकप्रिय कृति 'संस्कृतिची प्रतीकें' का हिंदी अनुवाद है। यह अनुवाद बहुत पहले कराया गया था, लेकिन हमें खेद है कि उसके प्रकाशन में

पर्याप्त विलम्ब हो गया।

अनुवाद के संशोधन तथा सम्पादन में हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक श्री चंद्रगुप्त वार्ष्णेय ने जो सहयोग दिया है, उसके लिए हम उनके आभारी हैं।

प्रतीकों का शिक्षित अशिक्षित सभी के जीवन में बड़ा महत्व होता है। अतः यह पुस्तक सभी के काम की है। प्रत्येक प्रतीक के साथ कुछ चित्र भी दे दिये गए हैं, जिससे पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गई है।

हमें पूर्ण विश्वास है कि पुस्तक सभी वर्गों और क्षेत्रों में चाव से पढ़ी जायगी और जो भी इसे पढ़ेंगे, उन्हें लाभ ही होगा।

—मंत्री

प्रस्तावना

भारतीय साहित्य में देवताओं तथा पूज्य चिह्नों के विवेचन में दो शब्द प्रमुख रूप से आते हैं। एक प्रतिमा अथवा मूर्ति और दूसरा प्रतीक। इन दोनों शब्दों का बहुधा समान अर्थ में व्यवहार होता है, परन्तु इनमें मूल-भूत अन्तर है। प्रतिमा का अर्थ है प्रतिबिम्ब, नकल अथवा मूर्ति। प्रतीक रूप-सादृश्य होता है। बुद्ध अथवा शंकराचार्य की मूर्ति इन विभूतियों के रूप का दर्शन कराती है और उनकी स्मृति को जाग्रत करती है। मूर्ति का अर्थ है मूल व्यक्ति का सादृश्य दिखाने वाली प्रतिकृति। भगवान रामचन्द्र ने अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर परित्यक्ता सीता की मूर्ति बनवा कर अपने बराबर बैठा ली थी। यह प्रतीक नहीं था।

प्रतीक में रूप सादृश्य का अभिप्राय होता है। उसमें सादृश्य का महत्व नहीं होता। प्रतीक का संबंध आशय अथवा अर्थ से होता है। अरूप, अदृश्य, अव्यक्त तथा अचिन्त्य आदि अनेक भाव प्रतिमा में नहीं दिखाये जा सकते। ये प्रतीक के रूप में दिखाये जा सकते हैं। ब्रह्म को ही ले लें। वह नाम-रूप से अतीत, अव्यक्त तथा स्वयं ही स्वयं को जानने वाली चीज है। 'नेति-नेति' कह कर इस वस्तु की व्याख्या करने पर भी विश्व में वह कहीं हाथ नहीं लगती। ब्रह्म की उपासना तो करनी चाहिए, पर किस आधार पर करें? बाद में उपनिषदों के ऋषियों ने दीर्घ चिन्तन करके ॐ अथवा प्रणव को उसका प्रतीक बनाया। भगवान ने कहा: "इस ओंकार को फालतू बात मत समझो।" 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म,' अर्थात ॐ एकाक्षर ब्रह्म है। इसकी तीन मात्राओं—अ+उ+म को ब्रह्म के सत+चित+आनन्द समझो। यदि विश्व का आदि, मध्य और अन्त इसमें माना जाय तो, इन मात्राओं का अर्थ उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय

माना जा सकता है।

प्रतीक सूत्र के समान सारवान तथा विश्वमुखी होता है। सारवान का अर्थ है सार रूप अर्थ का प्रकाशक, और विश्वमुखी का अर्थ है उसके अनेक अर्थ लाने वाला। प्रतीक गागर में सागर भर देता है। उसकी एक-एक रेखा बोलती है। वह मूर्ति की अपेक्षा अधिक समर्थ तथा प्रेरणा-दायक होता है।

अनेक सर्व-परिचित देवी-देवताओं में कइयों की मूर्ति या प्रतिमा नहीं होती, केवल प्रतीक होते हैं। इनमें जिनकी मूर्तियां हैं उनमें ब्रह्मा के चार मुख, शिव के तीन नेत्र तथा देवी की आठ भुजाएं बनाने का कोई कारण नहीं। ब्रह्मा के चार मुख उसका चारों वेदों का तथा चारों दिशाओं का ज्ञान दर्शाते हैं। शिव वास्तव में मंगलकारी हैं। परन्तु शैव आगमों में उसे विश्व के आदि, मध्य और अंत की घटनाओं का अधिकार दिया गया है। इसलिए भाल पर तीसरा नेत्र संहार का सूचक मान कर विठा दिया गया है। मदन-दहन के अवसर पर शिव के इस तीसरे नेत्र से आग की लपटें निकली थीं। देवी माहेश्वरी शक्ति है। इस शक्ति की कितनी सामर्थ्य है, यह जताने के लिए उसके आठ, दस या कहीं अठारह हाथ बनाये गए हैं और उसके हाथों में उत्पादक तथा सहारक दोनों प्रकार के आयुध दिये गए हैं। ये विष्णु के दस अवतारों के प्रतीक हैं। इनके द्वारा विश्व का विकास-क्रम दिखाया गया है। हमारे पुराणों में ऐसे अनेक प्रतीकों का विस्तृत अर्थ बताया गया है।

प्रत्येक संस्कृति की तीन अवस्थाएं कही जाती हैं। वृक्ष, पाषाण तथा प्राणियों की प्राकृतिक आकृति में किसी प्रकार का संस्कार न करके उनकी उपासना करना संस्कृति की पहली अवस्था थी। बाद में पाषाण की मूर्तियां बनने लगीं। अलग-अलग वृक्षों का अलग-अलग मूर्तियों से संबंध जोड़ा गया। पशु और पक्षी देवताओं के वाहन बन गये। यह संस्कृति की दूसरी अर्थात बीच की अवस्था थी। इसके बाद प्रतीकों का प्रादुर्भाव हुआ। मंत्र-द्रष्टा ऋषियों के शाश्वत चिन्तन से प्रकट होने वाले

आध्यात्मिक आशय को तथा मनुष्यों के मन की मधुर-मंगल भावना को व्यक्त करने के लिए कुछ विशेष चिह्न बनाये गए। ये प्रतीक विविध, गूढ़ तथा मनोगत अर्थों को प्रकट करते हैं। बाद में इन प्रतीकों को साहित्य, कला और व्यवहार के क्षेत्रों में महत्व प्राप्त हुआ। ये प्रतीक मनुष्य की रसिकता, मंगलकामना तथा आध्यात्मिकता को नवजीवन तथा पोषण देते रहे। यह संस्कृति की तीसरी और श्रेष्ठ अवस्था है।

इस पुस्तक में ऐसे तेरह प्रमुख प्रतीकों का परिशीलन किया गया है। मैंने इन प्रतीकों के सारे ऐतिहासिक, पौराणिक, आध्यात्मिक तथा कलात्मक अंगों के दर्शन कराने का प्रयत्न किया है। इनमें प्रत्येक प्रतीक के लिए अन्य बहुत सारी जानकारी देने योग्य है, परन्तु मैंने 'थोड़े में बहुत' का तत्व अपनाया है।

—महादेवशास्त्री जोशी

अनुक्रम

□ □

□□

हमारी संस्कृति
के
प्रतीक

□ □

१ / अर्द्धनारीश्वर

सृष्टि-रचना के प्रारंभ में ब्रह्मा ने दक्ष आदि मानस-पुत्र उत्पन्न किए और उन्हें सन्तानोत्पत्ति का आदेश दिया। ब्रह्मा ने सोचा, ये मानस-पुत्र मेरा बहुत बड़ा काम करेंगे, परन्तु अनुभव इसके विपरीत हुआ। उनके सन्तान नहीं हुई। इस कारण विधाता असमंजस में पड़ गए। उन्होंने तपस्या शुरू कर दी, क्योंकि असाध्य को साध्य करने का एकमात्र यही उपाय था। तपस्या के प्रभाव से आद्याशक्ति ने उनके शरीर में प्रवेश किया। विधाता सशक्त बन गए। इस शक्ति के बल पर उन्होंने शंकर की आराधना की। तब शंकर प्रसन्न होकर ब्रह्मा के सामने प्रकट हुए।

विधाता आँखें फाड़कर देखने लगे, कैसा अद्‌भुत रूप है यह! शंकर का आधा रूप नर का तथा आधा नारी का था। दो विरुद्ध तत्वों से मिलकर यह एक मूर्ति बनी थी। उसे पुरुष कहें तो आधा शरीर कोमल और सुन्दर था। नारी कहें तो आधा शरीर कठोर, परिपुष्ट और सशक्त था; जोड़ कहीं भी नहीं दीखता था। शिव का यह अर्द्धनारीश्वर स्वरूप जब अस्तित्व में आया तब सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था थी। मूर्तिकला के प्रारम्भ काल से ही वह सर्वमान्य, दृष्टि और मन को आकर्षक लगने वाला प्रतीक बन गया। इस रूप ने कवि और तत्वज्ञ, दोनों को ही समान रूप से मोह लिया। कवि-कुलगुरु कालिदास ने 'रघुवंश' के प्रारम्भ में नाम न लेते हुए भी इसी अर्द्धनारीश्वर की वन्दना की है:

"वागर्थाविवसंपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।"

अर्थात, "पार्वती और महेश दोनों आपस में मिलकर एकरूप हो गए, जिस प्रकार वाणी और अर्थ। वाणी और अर्थ जब एक-रूप होते हैं तभी भाव-सृष्टि की बहार आती है और जब पार्वती तथा परमेश्वर एकरूप होते हैं, अर्थात् अर्द्धनारीश्वर होते हैं, तभी विश्व-प्रपंच खड़ा होता है। अतएव जगत के माता पिता की मैं प्रारम्भ में वन्दना करता हूं।"

अर्द्धनारी-पुरुष रूप को देखकर फिर ब्रह्मा को प्रतीत हुआ कि प्रजा उत्पन्न होनी हो तो नर के समान नारी की भी आवश्यकता है। तब विधाता ने अर्द्धनारीश्वर से प्रार्थना की, तुम स्त्री-पुरुषात्मक मिथुन सृष्टि निर्माण करने के लिए विभक्त हो जाओ। एक से दो बन जाओ। द्वैत होकर अद्वैत की साधना करो। अर्द्धनारीश्वर ने विधाता की प्रार्थना सुनी और उसमें से नारी तत्व विभक्त हो गया। वही आगे चलकर दक्ष प्रजापति की कन्या 'सती' हुई। विभक्त होकर भी भावनात्मक दृष्टि से शिव और सती एक ही थे और अबतक बीजरूप में रुकी हुई जारज सृष्टि एकदम अंकुरित हो उठी।

अर्द्धनारीश्वर

अर्द्धनारीश्वर की यह कल्पना लोगों को अत्यन्त प्रिय लगी। कैसी विलक्षण जादूगरी थी उसमें। एक ही रूप में स्त्री और पुरुष। जैसे एक शब्द में दो आशय। नर की मर्यादा कहां समाप्त होती है और नारी का सौकुमार्य कहां

से प्रारम्भ होता है, यह समझ में नहीं आता। जैसे दिन और रात की संधि का पता नहीं चलता। कितना गूढ़ और गंभीर भाव है! इसकी मूर्ति अथवा चित्र बनाने में, कैसी सूक्ष्म दृष्टि और कितनी कला-चातुरी चाहिए, यह जानना हो तो 'मत्स्य-पुराण' ने शिल्पकारों को विस्तारपूर्वक जो मार्ग प्रदर्शन किया है, वह देखना चाहिए। वह इस प्रकार है :.

"शिव का बायां अंग नारी का बनाना चाहिए। मस्तक के दायें भाग में जटाजूट बंधी हो। उस पर द्वितीया के चन्द्रमा की बारीक कोर खोदनी चाहिए। दूसरे अर्द्धाङ्ग में केशों की सीधी मांग दिखानी चाहिए तथा उसमें सिन्दूर भरना चाहिए। दाहिने कान में वासुकी लटकता हो तथा बाएं कान में कुण्डल की रचना होनी चाहिए। दोनों दाहिने हाथों में त्रिशूलऔर नरमुण्ड दिखाया जाय। दोनों बाएं हाथों में दर्पण तथा कमल होने चाहिए। उन्हीं हाथों में कंकण तथा बाजूबन्द पहनावें। उसी अंग में एक ही पुष्ट पयोधर का निर्माण करें। कृश-कटि के उसी भाग में रत्न-जड़ित करधनी बिठानी चाहिए। दाहिने अंग को नागों का भूषण पहनावें। दाहिना चरण कमल पर टिका हुआ दिखाया जाय। बाएं चरण में पैजनियां हो। हाथ की उंगली में अंगूठी हो। दाहिना चरण शंकर का हिम के समान गौर तथा बायाँ चरण पार्वती का रक्त कमल के समान हो। मूर्ति द्विभुज तथा चतुर्भुज दोनों ही प्रकार की बन सकती है।"

शिल्पकारों के लिए इतना वर्णन पर्याप्त है। बाद में उन्होंने शास्त्र की मर्यादा का उल्लंघन करके अपनी कल्पना के आधार पर अन्य प्रकार के कई अलंकार पहना दिए। भारतीय कला के क्षेत्र में कलाकारों ने अर्द्धनारीश्वर की अनेक मूर्तियों का निर्माण किया है। ग० ह० खरे ने अपने ग्रन्थ में उनका विस्तृत वर्णन किया है। किसी समय मथुरा कुशाण-कालीन शिल्पियों का गढ़

था। वहाँ के एक शिला-पट्ट पर अर्द्धनारीश्वर की खड़ी तथा दो भुजाओं वाली मूर्ति है। बोधिसत्व अवलोकितेश्वर के समान इस मूर्ति का दाहिना हाथ अभयमुद्रा प्रदर्शित करता है। बाएं हाथ में गोल दर्पण है। दोनों कानों के कुण्डल एक ही प्रकार के हैं। मेखला के नीचे ऊर्ध्व लिंग है। बायां पांव उमा का होने के कारण जरा टेढ़ा दीखता है। दाईं ओर एड़ी तक धोती है।

बदामी की गुफा में अर्द्धनारीश्वर की एक चतुर्भुजी मूर्ति है। इसके नीचे दो हाथों में एक दंड है। यह दंड इस प्रकार तिरछा रखा है, जैसे नारद के हाथों में वीणा। ऊपर के दाहिने हाथ की कलाई में नाग लिपटा है तथा उसी हाथ में परशु पकड़ा हुआ है। बाएं हाथ में कमल का फूल है। शरीर पर अलंकारों की भरमार है। मुख के चारों ओर प्रभा-मंडल है। दाहिनी ओर सामने नन्दी और हाथ जोड़े हुए भृंगी, ये दो गण हैं। बाईं ओर हाथ में पात्र लिये एक नारी है। यह नारी कौन हो सकती है? 'शिव-पुराण' के अनुसार अर्द्धनारीश्वर के प्रकट होते ही उसने एक आद्या अथवा पराशक्ति को उत्पन्न किया। यह वही नारी हो सकती है। यह वर्णन एकमुखी मूर्ति का है। परन्तु धारासुरम् वाले अर्द्धनारीश्वर के तीन मुख और आठ हाथ हैं।

बहुत पहले योनि और लिंग, ये दोनों प्रतीक भी स्वतन्त्र थे। आगे चलकर अनुभव के आधार पर मनुष्यों ने दोनों प्रतीकों को एकत्र करके उनकी उपासना आरम्भ की। फिर जब मनुष्य ने मूर्ति-कला के निर्माण में सुसंस्कृति प्राप्त कर ली तथा वह कलाकार बन गया, तब इसी लिंग तथा जल हरि का प्रतीक उसने अर्द्धनारीश्वर के रूप में निर्मित किया। दोनों का भाव एक ही है। सन्तानोत्पत्ति यदि होनी है तो दोनों का एकीकरण होना अनिवार्य है।

सृष्टि के पूर्व स्त्री और पुरुष में भेद था या नहीं और था तो

किस प्रकार का था, इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न इस मूर्ति के द्वारा किया गया है। प्रारम्भिक अवस्था में स्त्री-तत्व और पुरुष-तत्व अविभक्त और अभिन्न थे, अर्थात् स्त्री-तत्व में पुरुष-तत्व और पुरुष-तत्व में स्त्री-तत्व। आज भी अत्यन्त निम्न स्तर के जीवों में ये दोनों तत्व एक ही शरीर में पाये जाते हैं। ऐसे जीवों को 'हर्मेफ्रोडाइट' (उभय-लिंगी) के नाम से पुकारा जाता है। ये अपने आपमें नारी और नर दोनों हैं तथा अपने बीच में से ही सन्तानोत्पत्ति करते हैं।

नारी प्रकृति है और नर पुरुष है। दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। पुरुष के बिना प्रकृति अनाथ है और प्रकृति के बिना पुरुष बेकार है।

इस जगत के सारे नर शिव हैं तथा जगत की सारी नारियां उमा हैं। ये दोनों ही जगत के कारकरूप हैं।

'रुद्रहृदयोपनिषद्' के अनेक मंत्र स्पष्ट कहते हैं :

"रुद्रो नर उमा नारी तस्मै तस्यै नमोनमः
रुद्रो ब्रह्मा उमा वाणी तस्मै तस्यै नमो नमः
रुद्रो विष्णुरुमा लक्ष्मीस्तस्मै तस्यै नमो नमः।

रुद्र सूर्य है और उमा उसकी प्रभा है। रुद्र यज्ञ है और उमा उसकी वेदी है। रुद्र गंध है और उमा उसका फूल है। रुद्र लिंग है तथा उमा उसकी जल हरी है।

'अग्निषोमात्मकं जगत' यह श्रुति का वचन है। अग्नि-षोम का अर्थ है अग्नि और सोम (रस)। प्रजापति ने अग्नि-षोमात्मक यज्ञ किया और उससे सारा विश्व, चार प्रकार के जीवों और चौरासी लाख योनियों की सृष्टि हुई, उसका विस्तार हुआ। अग्नि पुरुष-तत्त्व होने पर भी स्त्री के रज में है, और सोम स्त्री-तत्त्व होने पर भी पुरुष के शुक्र में है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर पुरुष में स्त्री और स्त्री में पुरुष है।

ये दोनों तत्त्व एक-दूसरे के लिए आकर्षक होते हैं, 'काम्य' होते हैं।

'काम' इन दोनों के बीच संयोजक भाव है। निम्नस्तर की सृष्टि में सूक्ष्म रूप से काम का जो भाव है, वह उच्चकोटि के प्राणियों में विकसित होता है और उनमें स्त्री तथा पुरुष अलग-अलग होते हैं। उनमें काम-चेष्टा का प्रकार भी भिन्न होता है। आश्चर्य की बात यह है कि इस तरह दोनों के विभक्त होने पर भी दोनों तत्त्व एक-दूसरे में, थोड़े-बहुत परिमाण में शेष रहते हैं।

मानव-प्राणी में काम-भावना का सर्वांगीण विकास हुआ है। इसका स्वरूप केवल शारीरिक नहीं होता, बल्कि आत्मा तक पहुंचता है। इसके एक भाग को शास्त्रीय तथा दूसरे भाग को ललित स्वरूप प्राप्त हुआ है। मनोविज्ञान का कहना है कि प्रत्येक प्राणी में नर और नारी, ये दोनों तत्त्व रहते हैं। शारीरिक लिंग-भावना प्रधान और प्रबल होता है, और भिन्न लिंग की भावना गौण तथा सूक्ष्म होती है। यही विरोधी भावना स्वाभाविक भावना के नीचे दबती-दबती चेतन से अचेतन मानस में प्रवेश कर जाती है। विरोधी भावना को दमन करने की प्रक्रिया नर-नारी में स्वाभाविक रूप से चालू रहती है। इसलिए उस व्यक्ति का एक ओर तो विकास होता है तथा दूसरी ओर उसी प्रकार बहुत तनाव भी पड़ता है। जाग्रत मन में दबी हुई यह विरोधी भावना फिर स्वप्नों का रूप धारण करती है। इन स्वप्नों में मनुष्य अपनी दमित भावनाओं के विविध चित्र निर्माण करता है और उनके दर्शन-स्पर्श से हर्ष अथवा शोक अनुभव करता है। यह एक प्रकार से दमित भावनाओं का मूर्तिकरण ही है।

यह मूर्तिकरण जब जाग्रतावस्था में होता है तब उससे अनेक प्रकार की कलाएं जन्म लेती हैं। कथा, काव्य, चित्र, शिल्प और

भक्ति के विविध रूप इससे प्रकट होते हैं। मनुष्य ने जिन अनेक सांस्कृतिक प्रतीकों का निर्माण किया है, उनका साक्षात्कार उसके अर्द्ध चेतन मानस में ही हुआ है। अर्द्धनारीश्वर के प्रतीक में उस पहले कलाकार ने अपनी दमित भावना का कलात्मक आविष्कार करके दोनों भावनाओं का सुंदर मेल दिखाया है।

अर्द्धनारीश्वर के रूप की उपासना क्यों की जाती है ? नर रूप और नारी रूप द्विविध काम पर विजय प्राप्त करने के लिए। मानव-जीवन में काम का बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक स्थान है, परन्तु वह स्वाधीन रहना चाहिए, तब वह मानव को सुख और सन्तोष देकर उसके विकास में सहायक बन सकेगा। काम के अधीन होना भी उचित नहीं तथा उससे घृणा करना भी ठीक नहीं। शिव में अर्द्धनारी का प्रतीक दिखाने का यही कारण है। कामदेव को भस्म करके भी उन्होंने पार्वती का पाणिग्रहण किया और उसे अपने आधे अंग में मिला लिया। शिव ने इस बात से क्या दर्शाया ? मन के भीतर भिन्न-लिंगी भावना का उदात्तीकरण।

पुरुष के मानस में स्त्री-भाव का उदात्तीकरण हुआ, तब उसके स्थान पर करुणा का उत्कर्ष होता है। जब वह कृपालु शिक्षक बनता है, तब वह कवि और कलाकार के रूप में प्रगट होता है। कलाकार का हृदय कोमल और संवेदनशील होना आवश्यक है। यह स्पष्टतया नारी प्रकृति का धर्म है।

इसी प्रकार स्त्री में भी है। उसके अन्दर भी सूक्ष्म रूप से पुरुषत्व रहता है और अवसर पाकर फूट पड़ता है। ऐसे ही अवसर पर कोमलता की मूर्ति सावित्री ने हठंपूर्वक यमराज का पीछा किया। विनय-शालिनी लक्ष्मीबाई चंडी का रूप धारण करके आग बरसाने वाली शत्रु-सेनाओं का सामना करती

है। स्वप्न में भी पति-विरह से विह्वल होने वाली सती-साध्वी पति के साथ चितारोहण करके ज्वालामयी बन जाती हैं। इसका मतलब यह है कि पुरुष को अपनी आत्मा में नारी रूप को उदात्त करके उसकी उपासना करनी होगी। इसी प्रकार स्त्री को भी अपने विनय, करुणा आदि गुणों को विकसित कर पुरुषत्त्व के स्फुलिंग जाग्रत रखने होंगे। स्त्रीत्त्व और पुरुषत्त्व, इन दोनों विरोधी भावनाओं को आन्तरिकता के साथ जोड़कर एकाकार करना होगा, अन्यथा जीवन अकेला और एकांगी हो जायगा।

तत्वज्ञान भी यही प्रतिपादन करता है। शिव जब शक्तियुक्त होता है तभी समर्थ होता है। शक्ति के अभाव में शिव 'शिव' न रह कर 'शव' रह जाता है। शैवागमों में जहां अद्वैत का उल्लेख है, वहाँ माया अर्थात शक्ति का बहिष्कार नहीं किया है। इसके विपरीत ब्रह्मशक्ति कहकर उसे ग्रहण किया गया है। तदनुसार शिव और शक्ति की समरसता का तात्पर्य यही अद्वैत है। माया प्रकृति है, अतएव महेश्वर मायी याने माया को धारण करने वाला हुआ। माया और महेश्वर के इस संयोग से सारे विश्व का निर्माण हुआ है। मनु ने कहा है :

"द्विधाकृतात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः॥"

अर्थात, "परमात्मा ने अपने को दो भागों में विभक्त किया। आधे अंग में पुरुष हुआ और आधे में नारी। वह सदा इसी रूप में रहता है।"

२ / ओंकार

हम मर्त्य (मरनेवाले) हैं। इतना ही क्यों, हरएक प्राणी मर्त्य हैं। जन्म लेते ही मृत्यु पीछा करने लगती है। और अन्त में 'अद्य वाऽब्द शतान्ते वा' कभी-न-कभी कालरूपी व्याध का वाण प्राणी के हृदय में घुसे बिना नहीं रहता। सर्वग्रासी काल की दाढ़ों से यदि कोई बच सके हैं तो वे हैं स्वर्ग के देवता। पहले वे भी मनुष्यों की भांति ही मर्त्य थे और मौत उनका भी पीछा करती थी, लेकिन मृत्यु से बचने की एक युक्ति देवताओं को सूझी। वे भयभीत तो थे ही, परन्तु उन्होंने मृत्यु के सामने हार न मान कर त्रयी विद्या का अर्थात् ऋक, यजः और साम की वेद-त्रयी की गुहा का आश्रय लिया। 'छद्' धातु का अर्थ 'आच्छादन' होता है। आच्छादन अर्थात् किसी वस्तु पर आवरण डाल कर उसे ढक देना। देवता वेदत्रयी से ढक गये। इसीलिए वेदों को 'छन्दस्' संज्ञा प्राप्त हुई।

परन्तु वहां भी मृत्यु से देवताओं का पीछा नहीं छूटा। जिस प्रकार वगुला पानी के भीतर रहने वाली मछली को चोंच से बींध कर ग्रस लेता है, उसी प्रकार मौत ने उन्हें वहां भी दवोच लिया। देवता वहां से भी भागे और उन्होंने ओंकार की शरण ली। वेदत्रयी यदि छोटा गढ़ है तो 'ओंकार' उसका वड़ा गढ़ है, शत्रु के लिए दुर्गम और असाध्य। वहां मृत्यु का प्रवेश असंभव है। वह स्थान देवताओं के लिए निर्भय सिद्ध हुआ और ये मृत्यु से बचकर अमर हो गए। ओंकार के इस सामर्थ्य को देख कर उपनिषद में ऋषियों ने मनुष्यों को उपदेश दिया : जो मृत्यु के भय से छूटना चाहता है, उसे ओंकार की उपासना करनी चाहिए।

ओंकार की महत्ता उद्घाटित करने वाली यह आख्यायिका 'छान्दोग्य उपनिषद' में वर्णित है। ओंकार अर्थात् त्रयीविद्या का

सार, उससे जाना जा सकता है। वेदों की श्रेष्ठता अवश्य ही अबाधित है, परन्तु ओंकार उसकी अपेक्षा सर्व समर्थ है। ओंकार की विद्या ही अक्षर-विद्या है। अक्षर अर्थात् अविनाशी और अविनाशी का अर्थ है एकमेव परब्रह्म। 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' कह कर भगवान कृष्ण ने उसे गौरवान्वित किया है। वेदों की उपासना से अधिक-से-अधिक स्वर्ग की प्राप्ति होती है। परंतु ओंकार की उपासना से साक्षात अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है। इसका उपासक ब्रह्म पद पर आरूढ़ हो सकता है।

अन्य प्रकार से कहें तो ओंकार सर्व रसों में श्रेष्ठ रस है। उसका उत्तरोत्तर ऐसा प्रकार है: सकल भूतों के सार से साकार हुई पृथ्वी। पृथ्वी का सार है जल। जल का सार वनस्पति। वनस्पति का सार मनुष्य। मनुष्य का सार वाणी। वाणी का सार ऋचा। ऋचाओं का सार साम और साम का सार उद्‌गीथ। यह उद्‌गीथ ही ओंकार है। यह सातों रसों में सबसे श्रेष्ठ आठवां रस है। महर्षि विनोवा के मत से सात छलनियों में छना हुआ 'रसशेखर' है।

सएव रसनां रसतमः परमः पराघ्र्योऽष्टमो च उद्‌गीथः।

ओंकार के दो नाम हैं: 'प्रणव' तथा 'उद्‌गीथ' इन्हें उसकी उपाधियां भी समझ सकते हैं। अर्थात् स्तुतिकरण। इस धातु में 'प्र' उपसर्ग जोड़कर 'प्रणव' शब्द वनता है। इसका अर्थ उत्तम रूप में की गई स्तुति अथवा उत्तम स्तोत्र हो सकता है। लेकिन यह उत्तम स्तोत्र किसका? उत्तर है परब्रह्म का। परब्रह्म की स्तुति के लिए समस्त गद्य-पद्यात्मक साहित्य अधूरा पड़ता है। वहां शब्द-चातुर्य काम नहीं देता। अतएव साढ़े तीन मात्राओं में जिसका सार समाया हुआ है, ऐसी ओंकार (ॐ) की ध्वनि ही परब्रह्म की वाचक और स्तुतिकारक बन गई है।

ओंकार की दूसरी उपाधि है 'उद्‌गीथ'। 'ग' अर्थात् गान

धातु में 'उत' उपसर्ग जोड़कर 'उद्‌गीथ' शब्द बनता है। इसका तात्पर्य है उच्च गायन, अथवा उत्तम स्तुति। 'उद्‌गीथाक्षराण्यु-पासीत' अर्थात् उद्‌गीथ के अक्षरों की उपासना करनी चाहिए, ऐसा विधान है। उद्‌गीथ का रहस्य प्रकट करने वाली एक और भी आख्यायिका छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों में आई है।

सुर और असुर, दोनों ही प्रजापति के पुत्र हैं। परन्तु इन दोनों में प्रारम्भ से ही स्पर्द्धा चली आ रही है। दोनों में कई बार भीषण संग्राम हुए हैं। ऐसे ही एंक संग्राम में देवताओं ने असुरों को परास्त करने के लिए उद्‌गीथ का आश्रय लिया था। वास्त-विक उद्‌गीथ कौनसा है, यह वे पहले नहीं समझ पाये। उन्होंने सोचा, नाक में होकर अन्दर और बाहर आने-जाने वाला वायु ही उद्‌गीथ होगा। यह जानकर उन्होंने वायु की उपासना प्रारम्भ कर दी। तब असुरों ने देवताओं के उद्देश्य को असफल बनाने के लिए घ्राणेन्द्रिय में आने जाने वाले वायु पर पाप का प्रहार किया। जो वायु पहले सुगन्ध ही सूंघता था, वह अब सुगन्ध के साथ दुर्गन्ध भी सूंघने लगा। यह उपाय असफल होते देखकर देवताओं ने उद्‌गीथ के रूप में वाणी की उपासना प्रारम्भ की। असुरों ने वाणी पर भी पाप का प्रहार किया। परिणाम-स्वरूप जो वाणी पहले सत्य ही बोलती थी, अब पापविद्ध होने के कारण असत्य भी बोलने लगी। युक्ति की असफलता को देखकर देवताओं ने नेत्र, कान और मन की उपासना उद्‌गीथ के रूप में की, लेकिन असुरों ने इन सब इन्द्रियों पर भी पाप का प्रहार किया। इससे नेत्र जो न देखने योग्य था, उसे देखने लगे, कान न सुनने योग्य को भी सुनने लगे और मन संकल्प-विकल्पों के भंवर में पड़ फंस गया।

इस प्रकार सभी युक्तियां विफल होने पर देवताओं की समझ

में आया कि वास्तविक उद्‌गीथ कौन-सा है। फिर मुख्य रूप में हृदय के भीतर जो प्राण है, उसकी ही उन्होंने उद्‌गीथ के रूप में उपासना शुरू कर दी। असुरों ने उसपर भी पाप का प्रहार किया। परन्तु पाप की मात्रा का प्रभाव प्राणों पर जरा भी नहीं पड़ा। यह पराजय असुरों को सहन नहीं हुई। तब वे स्वयं प्राण पर हमला करने को दौड़े। लेकिन जिस प्रकार कोई वस्तु पाषाण से टकरा कर चूर-चूर हो जाती है उसी प्रकार प्राण पर आक्रमण करने वाले उन असुरों का गर्व भी चूर-चूर हो गया।

उपनिषद्‌कार ऋषियों ने इस पर निश्चय किया कि हृदय में स्थित प्राण निष्पाप है। जिसके पास स्वार्थ नहीं, उसके पास पाप नहीं। यह एक सिद्धान्त है। 'लोभ मूलानि पापानि', अर्थात् लोभ पाप का मूल है। प्राण जो कुछ भी खाता पीता है, उससे उसे कोई लाभ नहीं है। उससे केवल इन्द्रियों की शक्ति का संरक्षण होता है। इस प्रकार प्राण और उद्‌गीथ का ताल-मेल बिठा कर ऋषियों ने ओंकार को प्राण का प्रतीक माना।

'छान्दोग्य' उपनिषद में मूलभूत दाम्पत्य की कल्पना की गई है : 'सद्वाएतन्मिथुनंयद्वाक्प्राणश्च'। दाम्पत्य अर्थात् वाणी और प्राण। इन दोनों का संयोग ओंकार में ही हुआ है। इसका भावार्थ यह है कि वाणी और प्राण के विशिष्ट संयोग से ही ओंकार का उच्चारण होता है। दूसरे रूप में कह सकते हैं कि ओंकाररूपी बालक को जन्म देकर ही वाणी और प्राण का दाम्पत्य जीवन कृतार्थ होता है, अर्थात तब तक दोनों को ही वांझ समझना चाहिए।

प्राण ही प्रणव हैं। प्राण को अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है तो उसकी उपासना ओंकार के रूप में करनी होगी। प्राण और सूर्य दोनों ही समान हैं। सूर्य उष्ण है, प्राण भी वैसा ही उष्ण है। जिस प्रकार सूर्य विश्व के जीवन को उष्णता प्रदान करता

है, उसी प्रकार मानव-जीवन को आवश्यक उष्णता प्राण से प्राप्त होती है। सूर्य, 'स्वर' अर्थात् गतिमान है, उसी प्रकार 'प्रत्या-स्वर' यानी वापस आने वाला भी है। प्राण भी ऐसा ही है। इस रहस्य को समझ कर ऋषियों ने कहा है कि शरीर में प्राण की और विश्व में सूर्य की उपासना ओंकार के रूप में करनी चाहिए। मुख्य प्राण अर्थात् प्रणव को 'अंगिरस' कहा जाता है। अंगों का सार यानी प्राण, जिसने प्राप्त कर लिया, उसी अंगिरस ऋषि से उसे यह नाम मिला है। बृहस्पति ने भी इसकी उद्गीथ के रूप में उपासना की थी। वाणी यानी बृहती और प्राण उसका पति, इसलिए बाद में उसे ही बृहस्पति कहा जाने लगा।

वेदों में जिसे बृहस्पति कहा है, पुराणों में वही गणपति कहा गया। ज्ञानेश्वर महाराज ने उसके अंगों को ओंकार के रूप में स्थित बतलाया है :

"अकार चरण युगुल। उकार उदर विशाल।
मकार महा मण्डल। मस्तकाकारें॥
हे तीन्ही एक वहले। तेथ शब्द कवललें।
ते पियां गुरु कृपा न मिले। आदि बीज॥

अर्थात्, ओंकार की तीनों मात्राएं जब मिलकर एकाकार होती हैं तब उनमें सारे वेद समा जाते हैं। उस ओंकार-रूप आदि-बीज की, अर्थात् उसी रूप में मैं ग्रन्थारम्भ में गणपति को प्रणाम करता हूं।

'ओंकार की मात्रा'—इन शब्दों का जो प्रयोग किया गया है उसकी थोड़ी-सी व्याख्या करनी उचित है। ओंकार अर्थात ॐ, अ+उ+म, इन तीन वर्णों की सन्धि से बना है। इन तीन वर्णों को तीन मात्राएं कहते हैं। इन तीनों मात्राओं के अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग अर्थ होते हैं। ब्रह्माण्ड की दृष्टि से देखें तो समस्त विश्व ब्रह्माण्ड तीन ही मात्राओं में विभक्त है। 'अ' पृथ्वी,

'उ' अन्तरिक्ष तथा 'म' द्यु लोक। इस विश्व की तीन अवस्थाएं भी इसी में बसती हैं। 'अकार' से उत्पत्ति का, 'उकार' से स्थिति का, तथा 'मकार' से विलय का बोध होता है। 'विश्व', 'तैजस' और 'प्राज्ञ'। जीवात्मा की ये तीन अवस्थाएं भी ओंकार में दिखलाई पड़ती हैं।

उस दृष्टि से देखने पर 'अकार' जाग्रत अवस्था में 'वैश्वानर' आत्मा होकर सभी शब्द-ध्वनियों में व्याप्त हो रहा है। ओंकार में अकार पर जोर देकर और उसका ध्यान करने पर, आधिभौतिक ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। ऐसा पुरुष एकनिष्ठ, तपस्वी और ब्रह्मवर्चस्वी होकर संसार में भी महानता प्राप्त करता है।

दूसरी मात्रा 'उकार' है। यह स्वप्नावस्था में रहने वाली 'तैजस' नामक आत्मा है। 'उकार' का अर्थ है उन्नति या उत्क्रान्ति। इस मात्रा का आगे की और पीछे की दोनों मात्राओं से सम्बन्ध है। यदि आधिभौतिक ऐश्वर्य से भी बढ़कर दिव्य अर्थात आधिदैविक सामर्थ्य की कामना हो, तब प्रणव की उपासना में 'उकार' पर अधिक ध्यान देना चाहिए। 'उकार' तेजोनिधि सूर्य नारायण का ही अंश है। उसकी कृपा हुई तो मनुष्य तेजस्वी हो जाता है। कर्तव्य के क्षेत्र में जूझने वाला तथा यश और कीर्ति से दीप्तिमान बनता है।

तीसरी मात्रा है 'मकार'। यह सुषुप्ति अवस्था में रहनेवाली 'प्राज्ञ' आत्मा है। इस प्राज्ञ आत्मा को प्रसन्न करने से, अर्थात प्रणव की 'मकार' मात्रा पर विशेष ध्यान देने से परात्पर ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। जीवन मृत्युरहित और कृतार्थ हो जाता है।

ये तीन मात्राएं तीन शक्तियां ही हैं। इन्द्रियों के कर्म, मानसिक कर्म तथा वैदिक कर्म इन तीन प्रकार के कर्मों पर उनकी सत्ता बनी रहती है। इनसे तीनों कर्मों में तेज आता है। अत-

एव मनुष्य को अपने आध्यात्मिक तथा भौतिक कार्यों में इन तीनों शक्तियों का विनियोग करना चाहिए।

परन्तु फिर भी ओंकार की अर्द्धमात्रा शेष रहती है। यह अर्द्धमात्रा पूर्वोक्त तीनों मात्राओं में समन्वय स्थापित करती है। यह सर्व सहिष्णुता और प्राणिमात्र में ईश्वरीय भावना जाग्रत करती है। वह ज्ञान द्वारा ज्योतित, पापपुण्य से अलिप्त शान्तात्मा की प्रतीक है। "ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः" बोलने का यही अर्थ है। यह मात्रा प्राप्त होने पर शास्त्र की तथा धर्म की मर्यादा लुप्त हो जाती है। फिर वह किसी भी धर्म का निषेध न करते हुए सभी धर्मों को अपने अन्दर समा कर विश्वव्यापक बन जाता है। आना-जाना, लेना-देना, जीवन-मरण, इच्छा-अनिच्छा, आदि के लुप्त हो जाने पर उसके अन्तस्तल में एकमात्र शान्ति ही शेष रह जाती है। यह सन्तों के अनुभव की बात है।

इसीलिए ब्रह्मवादियों के यज्ञ, दान, तप आदि समस्त कर्म ओंकार के उच्चारण से ही प्रारम्भ होते हैं। भगवान कृष्ण ने अर्जुन से कहा था :

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतप क्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥

प्रत्येक वैदिक मंत्र का पाठ ओंकार से प्रारम्भ होता है। यज्ञ के अनुष्ठान में अध्वर्यु ॐ बोलकर ही प्रत्येक मंत्र का उच्चारण करता है। ॐ के द्वारा ब्रह्मा प्रेरणा देता है। ॐ बोल कर प्रैष दिया जाता है। किसी अवसर पर अध्वर्यु को ब्रह्मा की या यजमान की आज्ञा लेनी पड़े तो वह ओंकार-पूर्वक ही पूछी जाती है। सभी श्रौत तथा स्मार्त कर्मों में आचमन करते समय 'ॐ केशवाय नमः' का उच्चारण करना पड़ता है। ओंकारहीन मंत्र पंगु माने जाते हैं।

ओंकार

ओंकारपूर्वक किया गया कर्म सात्विक बनता है। जिस प्रकार अन्धकार में दीपक अथवा घनघोर जंगल में पथप्रदर्शक राह बतलाता है, वैसा ही कर्मों के प्रारम्भ में ओंकार है। ओंकार हमारे प्रारम्भ किये गए कर्मों को निर्विघ्नता से सफल होने में सहायता प्रदान करता है। इतना ही नहीं, वह कर्मों के दोषों को भी दूर करता है।

यज्ञ, दान और तप कितने ही उत्तम क्यों न हों, परन्तु मोक्ष के मार्ग में प्रतिबन्धक हैं। कारण यह है कि ये कर्म फलकारक हैं और साधक की मोक्ष प्राप्ति में रुकावट पैदा करते हैं। कर्म तो करने ही पड़ते हैं, क्योंकि उनके बिना चित्तशुद्धि नहीं होती, परन्तु मोक्ष परम साध्य है। यदि मोक्ष की साधना करना है तो कर्मों के वन्धनों का नष्ट होना आवश्यक है। कटहल के कोये खाने की इच्छा है तो उंगलियों पर चेप नहीं लगना चाहिए। इसका यह उपाय है कि उंगलियों पर तेल चुपड़ लिया जाय। वैदिक ऋषियों ने कर्म-बन्धन से बचने की ऐसी ही बढ़िया युक्ति खोज निकाली है। वह है ओंकारोपासना। कर्मों के प्रारम्भ में प्रणव का उच्चारण करे, 'ओं तत्सत्' कहें, इससे यज्ञ, दान आदि कर्म वन्धक न होकर मोक्षदायक होते हैं। यही वात ज्ञानेश्वर ने एक दृष्टान्त से समझाई है।

स्थलीं नावा जिया दाहिजे। जलीं तिया जेविं तरिजे। तेवीं बंधकीं कर्मीं सुहिजे। नामे येणें।

अर्थात्, नाव जमीन पर तो भारी होती है। परन्तु पानी में डालने पर आराम से पार पहुंचा देती है। इसी प्रकार यदि कर्मों के प्रारम्भ में 'तत्सत्' का विनियोग किया जाय तो उस कर्म से मोक्ष की प्राप्ति सहज हो जाती है।

इस प्रकार ब्रह्म-विद्या का संपूर्ण तत्त्व इस ओंकार में संकलित करके रख दिया है। संसार और परमार्थ का द्विदल वीज इस ओंकार में ही निहित है। ओंकार में सदैव शान्ति भरी रहती है। वह प्राणों का, वेदों का तथा परब्रह्म का तेज-पुंज प्रतीक है। वह वृक्ष का बीज हथेली पर रखने से जिस प्रकार जटाओं तथा विस्तार सहित समग्र वटवृक्ष हस्तगत हुआ समझना चाहिए, उसी प्रकार यदि वास्तविक अर्थ में ओंकार भी आत्मसात् कर लिया, तो विश्व के साथ विश्वात्मा भी हमारे हृदय-प्रदेश में आकर क्रीड़ा करेगा। अतएव ध्यान-बिन्दु उपनिषद में असंदिग्ध रूप में उद्घोषित किया गया है :

"ओंकारप्रभवा देवा ओंकारप्रभवाः स्वराः।
ओंकारप्रभवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्॥"

३ / कमल

पौराणिक युग की एक कथा है। एक व्याध पत्नी सहित किसी नगर के बाहर रहता था। मेहनत-मजदूरी करके किसी प्रकार अपना निर्वाह करता था। एक बार उस प्रदेश में भारी अकाल पड़ा। बड़े-बड़े लोग भी अन्न के लिए तरसने लगे। व्याध की भी भूखों मरने की नौबत आ गई। प्रयत्न करनें पर भी उसे कहीं रोजगार नहीं मिला। अन्त में उसने विचार किया कि जंगल में जाकर कहीं से कन्दमूल ले आवे। वह पत्नी के साथ

जंगल में गया। दोनों वन-वन में भटकते फिरे, परन्तु उन्हें कंदमूल कहीं नहीं मिला। गरीब भूखे लोगों ने पहले ही चप्पा-चप्पा जमीन खोद डाली थी।

दोपहर के बाद व्याध एक सरोवर के पास पहुंचा। उस सरोवर में चारों ओर अत्यन्त सुन्दर कमल खिल रहे थे तथा जल के ऊपर झूम रहे थे। यह देखकर व्याध बहुत प्रसन्न हुआ। उसने पहले तो जी-भर कर जल पिया और फिर जल्दी-जल्दी कमल के फूल तोड़े। फिर उसने पत्नी से कहा, "देखो तो कितने सुन्दर कमल-फूल हैं। इन्हें बाजार में जा कर बेचेंगे। कम-से-कम एक जून का तो गुजारा हो जायगा।" वे दोनों नगर में आकर गली-गली घूम कर आवाज लगाने लगे, "कमल के फूल ले लो।" लेकिन किसी ने भी लेने की इच्छा व्यक्त नहीं की। व्याध को एक कौड़ी भी देने वाला कोई नहीं मिला। आखिर दिन छिप गया और धीरे-धीरे रात होने लगी। व्याध सोचने लगा कि इस अपरिचित नगर में रात गुजारने का ठिकाना कहाँ ढूंढूं? अन्त में दोनों पति-पत्नी एक घर के आँगन में पहुंच गये। वह घर किसी वेश्या का था। वह वेश्या भक्तिभावना वाली थी। उस दिन वेश्या का कोई व्रत था और इसके लिए भगवान् विष्णु की पूजा के निमित्त अन्य सब सामग्री तो थी, परन्तु कमल के फूल नहीं थे। उसी समय कमल-पुष्प लेकर व्याध उसके द्वार पर जा पहुंचा। यह देखकर वेश्या बहुत प्रसन्न हुई। उन कमलों का मूल्य जो भी व्याध मांगता, सो मिल सकता था। परंतु उस समय व्याध की मति भी बदल गई।

उसने सोचा—कमल तो देने ही चाहिए; परन्तु मैं इन्हें बेचूंगा नहीं। इस प्रकार बार-बार देव-पूजा होती हुई कभी देखने को भी नहीं मिलेगी, स्वयं पूजा करने का सौभाग्य मिलना तो बहुत दूर की बात है। यह वेश्या बहुत श्रद्धापूर्वक पूजा कर

रही है, इसकी पूजा में एक फूल तो दूंगा ही। और तब उसने कमल के सारे फूल वेश्या को सौंप दिये। इस उदारता से भगवान विष्णु व्याध-दंपति पर अत्यन्त प्रसन्न हुए। कालान्तर में व्याध और उसकी पत्नी का देहान्त हो गया। अगले जन्म में व्याध तो रथंतर नामका राजा हुआ और उसकी पत्नी रानी हुई।

पद्म पुराण में कमल का यह महात्म्य वर्णित है। पद्म पुराण ही क्यों, अनेक पुराणों तथा व्रत-कथाओं में स्थान-स्थान पर कमल की प्रशंसा की गई है। कमल सप्तमी नाम का एक व्रत है। यह व्रत चैत्र शुक्ल सप्तमी के दिन किया जाता है। इस अवसर पर स्वर्ण का कमल बनाकर और उस पर सूर्य की प्रतिमा बिठाकर दान किया जाता है।

कमल भारतीय संस्कृति का एक अत्यन्त प्रिय तथा अर्थपूर्ण प्रतीक है। कमल और सूर्य का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ है। सूर्य को कमलिनी का पति कहा गया है और विष्णु आदित्य होने के कारण उसके सम्पूर्ण जीवन में ओत-प्रोत हैं। विष्णु के चार हाथों में से एक हाथ में कमल सदा सुशोभित है। शंख, चक्र, गदा और पद्म ऐसा क्रम है। कवियों की कल्पना है कि शंख समुद्र से उत्पन्न होने के कारण भगवान विष्णु की ससुराल का सम्बन्धी अर्थात लक्ष्मी का अनुज है। इसीलिए उसे अपने पास रखा है। किन्तु शंख ज्ञान का प्रतीक है। नन्हें ध्रुव के गोरे गोल कपोलों पर जब भगवान् ने शंख का स्पर्श किया तो उसके हृदय में ज्ञान का उदय हुआ। विष्णु के दूसरे हाथ में सतत घूमता हुआ तेजोमय सुदर्शन चक्र है। उससे विश्व-चक्र प्रवर्तन सूचित होता है। तीसरे हाथ में गदा है जो दुष्टों का दमन करने के लिए है। चौथे हाथ में है कमल, वह किस लिए ? महाराष्ट्र के महान् सन्त तथा ज्ञानेश्वरी के रचयिता ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा है कि वह भक्तों की पूजा करने के लिए सदैव हाथ में

रहता है, "हातीं चे नि लीला कमलें। पूजूं तयां ते।"

इसका नाम है लीला कमल। इसीसे सारी सृष्टि का विकास होता है, जिसे प्रभु का लीला विलास कहते हैं। वास्तव में विष्णु अव्यक्त और अनाम है, निराकार और अजन्मा; परन्तु इस चराचर जगत में लीला करने के लिए वही साकार रूप धारण करता है। उसका स्वरूप कैसा है ? सर्वाङ्ग सुन्दर और खिला हुआ। चरण भी कमल के समान तथा हाथ, मुख, नेत्र और हृदय भी कमल के समान हैं। कहना चाहिए कि भगवान स्वयं कमल रूप हैं। इसीलिए उनका पूजन कमल पुष्पों से किया जाय, शास्त्रों का ऐसा कथन है। विष्णु की पूजा में सरोवर के कमल तथा तुलसीदल, ये दोनों अनिवार्य हैं।

यही भगवान विष्णु प्रलय काल के वाद अगाध और अपार जलराशि में बालक रूप हो कर वट-पत्र पर शयन करते थे। "ना सदासीन्नोसदासीत्तदानीम्। नासीद्रजो नो व्योमापरो यत्" ऐसी थी वह अवस्था। उस समय सत् भी नहीं था और असत् भी नहीं था। धूल तक भी नहीं थी और आकाश भी नहीं था। मृत्यु भी नहीं थी और अमरत्व भी नहीं था। ऐसी स्थिति में भगवान को सृष्टि निर्माण की प्रेरणा हुई। प्रेरणा-स्वरूप क्षोभ उत्पन्न हुआ। तभी शान्त, स्थिर और गम्भीर प्रलय सागर में लहरों ने नट-नृत्य शुरू कर दिया। उस संघर्ष से अग्निज्वाला उठी। उसने अपने चारों ओर का जल सोख लिया। इससे वह जगह खाली हो गई और आकाश महाभूत का जन्म हुआ। तभी भगवान विष्णु के नाभि प्रदेश से एक डंडी पैदा हुई और उसके सिरे पर सुन्दर कमल खिल उठा। उसमें गर्भ के समान ब्रह्मा बढ़ने लगे और बाहर आ गए।

ब्रह्मा आंखें खोलकर अपने चारों ओर देखने लगे। उन्होंने सोचा कि अपनी कमल जननी का मूल स्थान कहां है, यह

देखना चाहिए। तब उन्होंने उस अगाध जल में डुबकी लगाई। ब्रह्माजी को कमल की जड़ मिल गई तथा मुट्ठी भर मिट्टी भी उनके हाथ लगी। उसे लेकर ब्रह्मा ऊपर आए। वह मिट्टी उन्होंने कमल के पत्ते पर फैला दी। वही आगे चलकर पृथ्वी बन गई। कमल पुष्पों में जो केसर है, वही पर्वत बनी। मध्य भाग से जम्वूद्वीप बना, जिसमें हम रहते हैं। उसके बाहरी भाग में छोटी-छोटी पहाड़ियों वाला म्लेच्छों का देश बना। नीचे की पंखुड़ियों में देवलोक का निर्माण हुआ। इस प्रकार चौदह भुवनों के निर्माण का मूल कारण कमल ही है। इसीलिए वर्तमान कल्प का नाम 'पाद्म (कमल) कल्प पड़ा है।

ब्रह्मा पद्मासनस्थ हैं, विष्णु के हाथ में कमल है। लक्ष्मी कमलजा है। सूर्य भी आकाश के नील सरोवर में रक्त कमल है। कमल दान करने से अगले जन्म में वैभव प्राप्त होता है। कमल का चौक पूरने से घर में लक्ष्मी का आगमन होता है। कमल की पंखुड़ियों का सेवन करने से शरीर कान्तिपूर्ण तथा तेजस्वी होता है।

उपरोक्त कथा, आख्यायिका, संकेत आदि का यदि विश्लेषण किया जाय तो कमल इस पिण्ड ब्रह्माण्ड में किन-किन तत्त्वों का प्रतीक है, यह पता चल सकता है।

(१) कमल स्त्री-तत्व होने के कारण जीवन का उत्पादक है। (२) कमल का भाव है भूमि, योनि अर्थात चित् शक्ति। (३) कमल अर्थात शोभा, वैभव, आरोग्य, दीर्घायु और कीर्ति। (४) कमल अर्थात शाश्वत जीवन और अमृत, (५) कमल अर्थात शुचित्व और विशुद्ध ज्ञान और (६) कमल अर्थात संस्कृति का सार।

ऊपर वर्णन की गई ब्रह्मदेव की पौराणिक कथा में पृथ्वी और कमल का अङ्गाङ्गी भाव व्यक्त किया गया है। लगभग ऐसे ही

भाव का उल्लेख आर्य-पूर्व सिन्धु-संस्कृति में भी मिलता है। मोहन-जो-दड़ो की खुदाई में एक मूर्ति मिली है। उसे पृथ्वी का मूल प्रतीक माना जाता है। वह नग्न है, नितंबिनी है तथा स्तनों के भार वाली है। उसने अपने दोनों स्तनों को दोनों हाथों में ऊपर उठा रखा है। पृथ्वी ने भी विंध्य और हिमाचल को इसी प्रकार ऊपर उठाया हुआ है। उसके केशों में फूल लगा है और वह फूल है कमल।

देखा जाय तो विगत पांच हजार वर्षों से भारतीय संस्कृति का इतिहास कमल के इस प्रतीक से सुरक्षित प्रतीत होता है। चम्पा, मोगरा, बकुल, गुलाव, चमेली आदि सभी फूल अपने-अपने स्थान पर कमनीय तथा सुगंधयुक्त हैं। परन्तु कमल की लोकप्रियता सार्वभौभ मानी गई है। बिम्ब के आधार विष्णु तथा लक्ष्मी, इन दोनों देवताओं का प्रिय होने के कारण, कमल अपने को सनाथ तथा गौरवान्वित अनुभव करता है।

ऋग्वेद में कमल की दो जातियों का उल्लेख है। वे हैं: पुण्डरीक (श्वेत कमल) तथा पुष्कर (नील कमल)। अथवा इन्दीवर। इनके अतिरिक्त एक जाति और भी है जिसका ताम्र-वर्ण है इसका नाम है: कोकनद। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कमल माला का उल्लेख है। पंचविश नामक ब्राह्मण में कमल की उत्पति नक्षत्रों के सामूहिक तेज से बतलाई गई है। पुष्कर जाति का कमल अश्विनी कुमारों को अत्यन्त प्रिय है, ऐसा कहा जाता है। मिस्त्र देश में भी अति प्राचीन कमलासना देवी मिलती है। इसे अपनी कमलजा लक्ष्मी की वहन कह सकते हैं। इस्लामी संस्कृति के अनुसार सातवें आसमान पर खुदा का तख्त है और उसके दाहिने हिस्से में कमल का फूल खिला हुआ है।

कमल-पत्रों की यद्यपि कमल-पुष्पों के समान प्रतिष्ठा नहीं, फिर भी तत्त्व ज्ञान क्षेत्र में उनका सम्मान है। वहां कमल-पत्र

एक विशिष्ट उपमान के रूप में देखा जाता है। कमल-पत्र की विशेषता है कि वह जल में रहता हुआ भी सूखा रहता है। इस गुण का नाम है अलिप्तता। संसार में मनुष्य को इसी प्रकार निर्लिप्त होकर रहना चाहिए। राग द्वेषादि विकारों से अलिप्त रहकर ही भवबन्धन से मुक्ति मिल सकती है।

कमलासन बुद्ध

सामने चित्र में भगवान् बुद्ध की ध्यानावस्थित मूर्ति देखिये। विकसित कमल ही उनका आसन है। उनके चरण भी कमल पर टिके हैं। बौद्धों की दस पारमिताओं में 'प्रज्ञापारमिता' ही बुद्ध की सहचारिणी मानी गई है। उसके हाथ में भी कमल है तथा उस पर पुस्तक है। बौद्ध धारणा के अनुसार, बुद्ध जब चलते थे तो जहां उनके पांव पड़ते, वहां कमल उग आते थे।

महायान बौद्ध धर्म की कल्पना के अनुसार स्वर्ग में प्रत्येक आत्मा का उद्भव मणिपद्म से होता है और वह पद्म वन में ही विहार करती है। उन्होंने भी अवलोकितेश्वर नामक एक सर्व-श्रेष्ठ बोधिसत्व माना है और वह 'पद्मपाणि' है। 'ॐ मणि-पद्मेहुम्' यह मंत्र उन्हीं का है। इसमें भी मणि-कमल का ही उच्चारण होता है। तिब्बत के बौद्ध इसे सौभाग्य का मंत्र समझ कर सदैव जपा करते हैं।

बौद्ध शिल्प में राजग्रह, कान्हेरी, वेरूल (ऐलोरा) आदि की गुफाओं में, कमल को शोभा तथा चरणों के आधार के निमित्त

उत्कीर्ण किया गया है। वेरूल की गुफा में एक स्थान पर विशाल कमल पर भगवान् बुद्ध चरण रखकर विराजमान हैं तथा उसी कमल की छत्र-छाया में कई भक्त उनकी प्रार्थना कर रहे हैं। खुदाई का यह काम बहुत सुंदर दिखाई देता है। उदयगिरि, भारहुत, सांची आदि के स्तूप भी कमल शिल्प से सुशोभित हैं। सम्राट अशोक भी अपने स्तम्भों के शीर्ष पर मुकुलित कमलों को बिठाना नहीं भूले। मुस्लिम शिल्प में भी किसी सीमा तक कमल को स्थान मिला है। तर्क तीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी ने कहा है :

"हिंदुस्तान में मुस्लिम वास्तुकला का विश्व विख्यात उदाहरण आगरा का ताजमहल माना जाता है। संसार की अन्य इस्लामी इमारतों की अपेक्षा यह इमारत भिन्न प्रकार की है। इसका निर्माण—हिन्दु शिल्पशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार किया गया है। गुम्बदों की जड़ में कमल की पंखुड़ियाँ हैं और शिखर पर औंधा कमल है।"

इस औंधे कमल में भी अर्थगांभीर्य है। अनेक हिन्दु मन्दिरों की सजावट में औंधे कमल बने हुए हैं और उनका अर्थ योगशास्त्र के संकेतों से प्रकट होता है। मनुष्य के शरीर में मूलाधार, स्वाधिष्ठान इत्यादि जो षड्चक्र है वे पदमाकार ही हैं। प्रत्येक चक्र का पृथक्-पृथक् देवता है। ये देवता जाग्रत हुए तो फिर चक्र भी जागृत हो जाते हैं। डा० आनन्द कुमार स्वामी भारतीय कलादर्शन के प्रकाण्ड पण्डित माने जाते हैं। एक बार उनसे किसी ने पूछा कि वह कौन सी वस्तु है जिसके बिना भारतीय साहित्य तथा शिल्प शून्य हो जायगा ? डाक्टर आनन्द ने तत्काल उत्तर दिया:—"कमल" !

ठीक तो है, कमल को निकाल दिया जाय तो शारदा एक महान् अलङ्कार से हीन हो जाती है। सौन्दर्य के एक उत्फुल्ल

उपमान के रूप में स्वीकृत कमल साहित्यिक उपवन को सुरभित कर रहा है। यदि कमल न होता तो कालिदास ने कामदेव के समान सुंदर राजा अज की आंखों की उपमा किससे दी होती ? कमल-पत्र न होते तो उस भोली-भाली वनकन्या शकुन्तला ने दुष्यन्त को 'तव न जाने हृदयम्' इस व्यथित भावना से प्रणय पत्र किस पर लिखा होता ? कमल न होता तो पंडितराज जगन्नाथ की मार्मिक कमल-अन्योक्ति से क्या हम वञ्चित नहीं रह जाते ?

"भ्रमरश्व मारुतेऽस्मिन् मा सौरभ लोभमम्बु जिनि मंस्थाः
लोकानामेव मुदे महितोऽप्यात्मामुनार्थितां नीतः ॥"

अर्थात्, हे कमलिनि ! यह वायु तुझसे छेड़छाड़ करता है, परंतु भौंरे के समान तेरे सौरभ का स्वार्थी नहीं, यह याद रखना। वह तेरे पास याचक बनकर आया है और वह तेरी सुगन्ध चारों दिशाओं में फैलाकर लोगों का मन आनन्द से भर देता है।

यहां वायु के निस्वार्थ भाव के गौरव की रक्षा के निमित्त कवि ने भौंरे को स्वार्थी, लोभी और लंपट सिद्ध किया है। लेकिन भ्रमर कैसा ही क्यों न हो, फिर भी वह कमल का दीवाना है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। वह कमल से मरकन्द तो अवश्य लूटता है परन्तु उसकी यह लूट कितनी सदय है ! प्रिय वस्तु को रंचमात्र भी दुखित न करते हुए उसकी लूट होती है। सन्त ज्ञानेश्वर ने एक स्थान पर कहा है :—

"कमला वरी भ्रमर। पाय ठेविति हलुवार
कुचंबेल केसर। इया आशंका"

अर्थात् भौंरा कमल पर मरकन्द पान करने की गरज से इस प्रकार धीमे-धीमे पैर रखता है कि कहीं कमल केसर को पीड़ा न पहुंचे। इन शब्दों में श्री ज्ञानेश्वर महाराज ने कमल के प्रति अपनी कोमल भावना व्यक्त की है। उन्होंने महाभारत को भी

कमल की उपमा दी है। महाभारत अठारह पंखुड़ियों वाला कमल और गीता उसका सारगर्भ मकरन्द है।

भर्तृहरि ने कहा है कि सरोवर में कमल न हो तो उसके हृदय में शूल उठता है। यह ठीक ही है क्योंकि कमल और जल की शोभा अन्योन्याश्रित है।

"पयसा कमलं कमलेनपयः। पयसा कमलेन विभाति सरः" —जल से कमल की शोभा है और जल तथा कमल, इन दोनों से सरोवर सुशोभित होता है। एक अन्य कवि ने कमल को लक्ष्य करके कहा है :

"हे पुंडरीक। लोक-धात्री लक्ष्मी तुझ में निवास करती है। सारे जगत के मित्र सूर्य का तुझ में अनन्य प्रेम है। भ्रमर बंदी-गण के समान सदैव तेरा यशगान करते रहते हैं। किसी भी पुष्प से तेरी तुलना नहीं की जा सकती।—तेरे जैसा तू ही है।

कमल की सारी महिमा इन चार पंक्तियों में आ गई है।

टिप्पणी : इस प्रकरण में मूलाधार तथा स्वाधिष्ठान चक्रों का उल्लेख है। कुंडलिनी योग में शरीर चेतना के छः चक्र माने गये हैं। ये हैं : मूलाधार (गुदा), स्वाधिष्ठान (लिंग मूल), मणिपूर (नाभि), अनाहत (हृदय), विशुद्ध (कंठ) तथा आज्ञा (भ्रू-मध्य)। कोई ब्रह्मरूप में सातवां चक्र भी मानते हैं। ये चक्र कमलाकार हैं और प्रत्येक कमल में पंखुड़ियों (दलों) की संख्या अलग-अलग है।

४ / कलश

विवाह का मुहूर्त है। दूल्हे की बारात वधु के घर की ओर जा रही है। सबसे आगे बाजे वाले हैं, पीछे सजी सजाई मोटर-गाड़ी, उसके पीछे वस्त्रालङ्कारों से सजी हुई सौभाग्यवती कुल वधुएँ और उनके पीछे पुरुष समुदाय; ऐसे ठाटबाट वाली बारात है। मोटर में सेहरा बांधे दूल्हा विराजमान है। उसके पास एक स्त्री बैठी है। वह दूल्हे की नातेदार या अन्य कोई सगी बहन लगती है। उसके हाथ में क्या है, यह ध्यान से देखें। तांबे के पात्र में आम के पत्ते और उनपर नारियल धरा है। इस पात्र को 'कलश' कहते हैं।

ऐसी ही दूसरी बारात भी देखने योग्य है। इस दूसरी बारात में वर मोटर की जगह घोड़ी पर आरूढ़ है। बारात के बीच में वर घोड़ी पर बैठकर मंथर गति से चल रहा है। घोड़ी पर एक नहीं दो जनों का भार है। आगे रकाबों में पांव डाले वर तथा उसकी पीठ के पीछे उसकी बहन है। उसके हाथ में भी कलश है। कलश उसके हल्दी-लगे पीले हाथों पर नहीं बल्कि उसके शीश पर रखा है। उसका बायाँ हाथ वर के कन्धे पर है और दायाँ हाथ सिर पर धरे कलश पर है। वर विवाह के समय जब खड़ा होगा तब वही बस कलश को लेकर उसके पीछे खड़ी होगी।

वर की बहन को विवाह के अवसर पर 'करवली' अर्थात 'कलशवाली' कहकर पुकारा जाता है। कलश धारण करने वाली होने से उसका नाम 'करवली' है। वधु के घर में उसका सम्मान या उसका स्थान वर की माता यानि समधिन के समान है। वर का थाल सजाते समय 'करवली' की पत्तल भी उसके पास लगानी पड़ती है। वर की अपेक्षा उसका रोब अधिक होता है। उसे वधु-पक्ष की ओर से जो नेग मिलता है उसे 'कलश का मान'

कहते हैं। यदुनाथ भगवान कृष्ण के विवाह के अवसर पर जब जीमने का समय हुआ तो कमल के बूटों की साड़ी के लिए सुभद्रा रूठ गई। उसे मनाते-मनाते रुक्मिणी के नाकों-दम आ गया। यह कथा 'रुक्मिणी स्वयम्बर' में है।

यह सब कलश की महिमा है। विवाह के अवसर पर ही नहीं किसी भी मांगलिक पर्व में, चाहे पूजा हो या यज्ञोपवीत संस्कार, या शान्ति अथवा समृद्धि के लिए अनुष्ठान, कलश के बिना काम नहीं चलता। कलश होना ही चाहिए और सर्व प्रथम होना चाहिए। प्रतिदिन की देवपूजा के अवसर पर भी सबसे पहले कलश का पूजन करना पड़ता है। कार्य के प्रारम्भ में विघ्नविनाशक गणपति के पूजन का विधान है, लेकिन उस समय भी पहले कलश पर कुंकुम और चावल लगाते हैं।
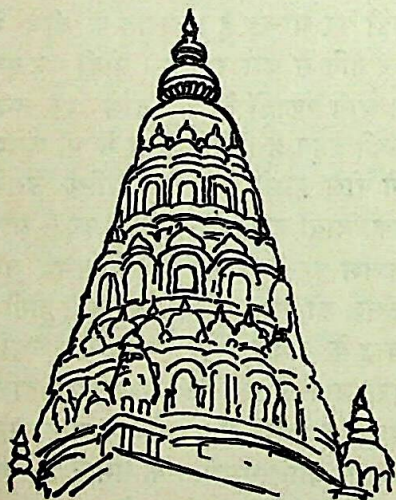
मंदिर का कलश

कलश भारतीय संस्कृति का सर्वोच्च तथा सबसे पहले सम्मान का प्रतीक है। किसी भी महत्त्वपूर्ण कार्य के प्रारम्भ में 'पुण्याह वाचन' होता है। यह कृत्य दो कलशों की साक्षी तथा उनके सान्निध्य में होता है। सबसे पहले चौक पूरा जाता है। उस पर पटड़ा रख दिया जाता है। पटड़े पर धान की दो ढेरियाँ कर दी जाती हैं। उन ढेरियों पर दो कलश स्थापित किये जाते हैं। उन पर कुंकुम की

रेखाएं खींचते हैं। फिर यजमान दम्पति वनके सामने बैठते हैं। ये कलश जल से भरे पूरे तथा चंदन धूप से सुवासित होते हैं। जल में दूर्वादल डालते हैं। दूर्वा केवल गणेश-पूजन में ही नहीं बल्कि कलश स्थापना में भी आवश्यक है। दूर्वा को काटने-उखाड़ने के बाद भी फिर हरी हो जाती है। उसके इस स्वभाव को देखकर वंशवृद्धि व वंशस्थिरता की भावना के कारण समस्त मंगल कार्यों में दूर्वादल को महत्व दिया गया है।

दूर्वादल के बाद कलश पंचपल्लवों से सजाया जाता है। पीपल, आम, गूलर, जामुन तथा वट इन पाँच वृक्षों के पत्तों को समस्त माङ्गलिक कार्यों में "पंच-पल्लव" कहकर सम्मानित किया गया है। इनमें प्रत्येक वृक्ष के पीछे दैवी तथा शुभ संकेतों की भावना है और 'इष्टंधर्मेण योजयेत्', इस न्याय से कलश तथा पंच-पल्लवों की संगति की गई है।

पंच-पल्लवों के बाद 'पंच-रत्न' आते हैं। स्वर्ण, चाँदी, मोती, पन्ना और प्रवाल (मूंगा) ये पंचरत्न होते हैं। वेद-मंत्र है कि जो रत्नदान करता है उसे सविता (सूर्य) भाग्यशाली बनाते हैं। परन्तु रत्न उपलब्ध नहीं होते तब भी कलश-स्थापना में कोई अड़चन नहीं आती, क्योंकि ताँबे का एक पैसा ही उन पाँचों का प्रतिनिधित्व कर सकता है। पंच-पल्लवों से कलश शोभित होता है, और पंचरत्नों से श्रीमन्त बनता है। इस प्रकार उससे दो प्रकार से 'श्री' प्राप्त होती है। फिर उसके चारों ओर वस्त्र लपेटने से वह 'सुवासस्' अर्थात् सुन्दर वस्त्रों वाला होता है।

परन्तु इतना कुछ करने पर भी कलश अधूरा ही रहता है। उसे सब प्रकार से तथा परिपूर्ण रूप में सुन्दर बनाना हो तो पूर्ण पात्र अथवा नारियल आदि की आवश्यकता होती है। कलश में देवता की स्थापना करनी हो तो उस पर धान्य से भरपूर पात्र रखना पड़ता है और यदि केवल मांगलिक कलश हो तो उस पर

नारियल खड़ा करके रख दिया जाता है। इस प्रकार कलश की रचना पूर्ण होती है।

स्वस्तिक की आकृति बनाते समय जिस प्रकार उस पर सूर्य देव आकर बैठते होते हैं, उसी प्रकार समझ लें कि जलभरे कलश पर भी वरुण देव आकर बैठते हैं। जो संबन्ध कमल तथा सूर्य का है। वही कमल और वरुण का है। मनुष्य ने पहले मिट्टी का घड़ा बनाया और उस में पानी भरा। वह दृश्य उसकी आँखों को बहुत भला लगा। उसने किसी अनिर्वचनीय और मंगल भावना का अनुभव किया। उसी क्षण उसने प्रतीक समझ कर उसका आदर किया। आगे चलकर रसाधिपति वरुण की उस घट में स्थापना करके उस प्रतीक को महान् गौरव प्रदान किया।

कलश पर अधिष्ठित होने वाला यह वरुण कैसा है? एक शब्द में कहें तो यह 'असुर' है। असुर का तात्पर्य सुर-विरोधी दैत्य नहीं, बल्कि विश्व का व्यापार और धारण जिस अदभुत और अगम्य शक्ति से संचालित होता है, उस का स्वामी। यह शक्ति रसमय है। देवता, मानव, पशु और विश्व की जितनी तथा जो भी वस्तुएं हैं, इन सब में यह रस है। इसके योग से ही सारे जीवों तथा सारी वस्तुओं की धारणा शक्य होती है। यह रस जिस परिमाण में अधिक होगा उसी परिमाण में जीवनी शक्ति भी अधिक होगी। वरुण में यह शक्ति बहुत अधिक मात्रा में और उत्कट रूप में भरी हुई है, इस लिए वह असुर है। यही 'असु' शक्ति के प्रभाव से समस्त विश्व में अपना डंका बजाता है और सभी को शक्ति प्रदान करता है।

यह विश्व कितना प्रचण्ड है! कितना तेजस्वी है! किन्तु न तो यह अव्यवस्थित है और न अस्त-व्यस्त। विश्व में व्यवस्था और नियमितता है। किन्हीं अनुल्लंघनीय नियमों से नियंत्रित है। कोई 'महादेव' विश्व को नियंत्रित करने का अदभुत

काम कर रहा है। प्रकृति को वश में करने के लिए उसके पास साधन-सम्पन्न ऐसा दृढ़ और अटूट पाश है। और यह 'पाश-धारी' नियन्ता दूसरा कोई नहीं, वरुण ही है। उसने विश्व को 'व्रत' से दीक्षित किया हुआ है। व्रत का तात्पर्य है नियमन, मर्यादा। 'अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि'। वरुण के व्रत को कोई नहीं तोड़ सकता। वह अपने पाश से विश्व शक्ति को मर्यादा में रखता है। यह मर्यादा अथवा 'व्रत' टूटा कि उसका शासन ही उसे बांध लेता है। यह डा० रा० ना० दांडेकर का कथन है।

कलश पर वरुण का आवाहन करते हुए वेद-मंत्रों का विनियोग होता है :

तत्त्वायामि ब्रह्मणा वंदमान-
स्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः
अहेळमानो वरुणेह बोध्यु-
रुशंस मान आयुः प्रमोषीः ॥

हे वरुण। तुझे प्रणाम करते-करते मैं तेरे समीप आता हूं। इस निमित्त यज्ञ करने वाला भक्त तुझे आहुति अर्पित करके तुझ से याचना करता है। हे वरुण ! तू प्रसन्न होकर मेरे पास रह। मेरी आयु कम मत करना। देख, तेरी कीर्ति चारों ओर व्याप्त हो रही है।

अब आगे कलश की प्रार्थना के श्लोक पढ़ें। कलश पिंड तथा ब्रह्माण्ड में किस प्रकार व्याप्त रहता आ रहा है, यह इन श्लोकों में देखें :—

"कलशस्य मुखे विष्णुः कण्ठे रुद्रः समाश्रितः।
मूले तत्र स्थितो ब्रह्मा मध्ये मातृ गणास्मृताः ॥
कुक्षौ तु सागराः सर्वे सप्तद्वीपा वसुन्धरा।
ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदः सामवेदो ह्यथर्वणः ॥

अंगैश्च संहिताः सर्वे कलशे तु समाश्रिताः।
अत्र गायत्री सावित्री शांति पुष्टि करी तथा ॥
आयान्तु मम शांत्यर्थं दुरितक्षयकारकाः।
सर्वे समुद्राः सरितस्तीर्थानि जलदा नदाः ॥
आयान्तु मम शांत्यर्थं दुरितक्षय कारकाः ॥"

इसका अर्थ वोधगम्य तथा सुगम है। भारतीय संस्कृति के आचार्यों ने इस छोटे से कलश में समस्त देव, सप्त सागर, सप्त-सरिता, सप्त द्वीप, धरित्री, चारों वेद, गायत्री और सावित्री, इन सब को लाकर बिठा दिया है। यह सब पाप, क्षय तथा शान्ति के लिए सब को एक ही प्रतीक में एकत्र करके और उनके विरोध का शमन करके सब का समन्वय किया है। बिन्दु में सिन्धु को देखने वाली, आर्य मनोवृत्ति का उदार उदाहरण इस प्रार्थना में देखने को मिलता है।

पुण्याह-वाचन में भी एक अत्यन्त सुन्दर-प्रयोग है। पटड़ी पर बैठकर दम्पति कलश पूजा करते हैं। ब्राह्मण आशीर्वाद देता है। यजमान उकड़ूं बैठकर दोनों हाथों में कलश उठाता है। वह कलश को अपने तथा पत्नी के माथे से स्पर्श करता हुआ कहता है :

"एताः सत्याः आशिषः सन्तु।" हे विप्र! तुम्हारा दिया हुआ आशीर्वाद सत्य हो।"

यह विधि सम्पन्न होने पर कलश के जल से यजमान दम्पति का अभिषेक होता है। इस अभिषेक-मंत्र में आपोदेवी की प्रार्थना है :

"आकाश द्वारा जो जल बरसता है, कुआं खोदने पर जिस जल की उपलब्धि है, जो जल स्वयं निकलता है और खुद पवित्रता व निर्मलता धारण करके अन्य सब को पवित्र तथा निर्मल करता हुआ सागर में विलीन हो जाता है, वह आपोदेवी

मेरी रक्षा करे। जगत्पति वरुण जिसके भीतर बसा हुआ संसार भर के लोगों के शुभ-अशुभ कर्मों को देखता रहता है, और जो मधुर रस का स्नान करता है, वह आपोदेवी मेरी रक्षा करे...।"

कलश यदि बड़ा हो तो वह घट कहलाता है। नवरात्रों में स्थापित घट देवी का घट होता है। संक्रान्ति पर वही घट सौभाग्यवती का अखण्ड सौभाग्य देने वाला होता है। यह घटदान की विधि है। अक्षय तृतीया पर पितरों के निमित्त सीधा निकालकर घट दान का विधान है। मत्स्य पुराण में अनेक महादानों का वर्णन है। उन्हीं में एक 'महाभूत घटदान' का उल्लेख है। 'हिरण्यगर्भदान' भी इसी कलश के आधार पर होता है। मत्स्य पुराण में इसका विधान इस रूप में मिलता है:— "शुभ दिन देखकर सोने का बड़ा सा कलश बनवावें और उसे दूध तथा घृत से भर दें। तिलों का एक ढेर लगाएं और फिर यजमान मंगल स्नान करके उत्तराभिमुख बैठे। ब्रह्मा की प्रतिमा मुट्ठी में रखे। यह प्रतिमा 'हिरण्यगर्भ' है। ब्राह्मण इस हिरण्यगर्भ का संस्कार करता है। फिर कलश को बाहर ले जाकर वह मूर्ति आचार्य को दान करनी चाहिए। ऋत्विज दूसरे कलश के जल से यजमान का अभिषेक करें।"

कलश-पूजन

वास्तुकला में भी कलश है और वह सर्वोपरि विराजमान है। इसे भी कलश ही कहते हैं। मन्दिर का निर्माण हुआ तो उसके शिखर पर कलश अनिवार्य है। कलश बनने पर ही मन्दिर

पूर्ण हुग्रा माना जाता है। 'कलहान्तानि हर्म्याणि' की भांति 'कलशान्तं च मन्दिरम्' ऐसी नयी कहावत बन जाए तो हर्ज नहीं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कलह से कुटुम्ब का ग्रन्त हो जाता है उसी प्रकार कलश से मन्दिर निर्माण की क्रिया का ग्रन्त हो जाता है। ग्रापने शायद किसी मन्दिर का शिखर देखा होगा। गोल कलश, उस पर पत्ते ग्रौर उस पर नोक की ग्रोर सीधा खड़ा नारियल, ऐसी रचना देखने को मिलेगी। सन्त ज्ञानेश्वर ने ग्रपनी ग्रमर कृति 'ज्ञानेश्वरी' को मंदिर मान कर ग्रन्त के ग्रठारहवें ग्रध्याय की समाप्ति पर कलशाध्याय कहा है।

जिस समय कलश का संबन्ध जल की ग्रपेक्षा दीप-ज्योति से होता है, तब उसकी शोभा ग्रनोखी होती है। घट में दीपक का ग्रर्थं ग्रन्तर में प्रकाशित ग्रात्मा। सन्त तुकाराम की इस बारे में बहुत सुन्दर उक्ति है :

"सांडिली त्रिपुटी। दीप बजलला घटीं।"

नवरात्रि का घटस्थापन होते ही गुर्जर नारियों का 'गरबा' नृत्य शुरू हो जाता है। गरबा ग्रर्थात कलश। उसमें जल नहीं होता, परंतु वह प्रकाशमान होता है। घड़े के भीतर छोटा दीपक जलता रहता है। उस गरबे के चारों ग्रोर गुजराती नारियां तालियां बजा-बजा कर गाती ग्रौर नाचती हैं। कुछ नारियां दिन में गरबा सिर पर रखकर विदाई मांगती हुई घर-घर जाती हैं।

उत्तर प्रदेश का 'चरकला' तथा पंजाब का 'जागो' ये दोनों लोक-नृत्य एक प्रकार से घट नृत्य ही हैं।पंजाब का जागोनृत्य विवाह ग्रादि मांगलिक समयों का नृत्य है। इसके लिए एक घड़े को रंग कर फूलमालाग्रों से सजाया जाता है। उसका मुख गीले ग्राटे से बन्द कर दिया जाता है। उसके ऊपर पांच दीपक रखते हैं। यह घड़ा वर-पक्षी की किसी सुहागन नारी के सिर पर रख दिया जाता है। फिर उसे बीच में खड़ी करके उसके चारों ग्रोर

वधु-पक्ष की स्त्रियां नाचती और गाती हैं।

महाभूत घटदान, हिरण्यगर्भदान, अभिषेक, जलकलश दीप-कलश आदि सब के परिशीलन के पश्चात् यह जान सकते हैं कि कलश किस का प्रतीक है। कलश है मानव शरीर का प्रतीक। कलश की स्थापना धान की ढेरी पर होती है। इससे प्रकट होता कि अन्न इस मानव शरीर का आधार भूत तत्त्व है। 'अन्नमय प्राण और प्राणमय पराक्रम' यह कहावत प्रसिद्ध है। यह "अन्नं प्राणमन्नपानमाहु:"— इस श्रुति का ही अनुवाद है। कलश का तात्पर्य है जीवन रूपी जल और प्राण रूपी ज्योति को धारण करने वाला सुगठित शरीर। सभी सन्तों ने मानव देह को 'घट' कहकर पुकारा है। कबीर ने कहा है—

"घट-घट रमता राम रमैया, कटुक वचन मत बोल रे।"

शरीर पवित्र है, सुन्दर है और दर्शनीय है! परन्तु कब तक? जब तक मानवदेह रूपी घट में जीवन-रूपी जल तथा प्राण-रूपी ज्योति है। प्राणहीन देह प्रतिमाहीन मन्दिर के समान है। अभद्र, अमंगल। आत्माराम का वियोग हुआ कि घट फूट गया। मानवदेह में अर्चनीय तत्त्व है प्राण। जबतक देह में प्राण का उल्लास है, तभी तक यह घट कान्तिमान, सुन्दर तथा मंगलमय है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राण को 'अर्क' की संज्ञा दी गई है। अर्क का अर्थ है पूजनीय। प्राण स्वत: पूजनीय है अतएव अपने अधिष्ठान को भी पूजनीय बनाता है। महर्षि वेद व्यास ने कहा है :— "न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं लोके किंचन विद्यते' अर्थात मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है।

और मन्दिर के शिखर पर चमकने वाला कलश! वह ऊंचा उठकर सारे जगत को उसके कर्तव्य का बोध कराता रहता है। इस देह को सार्थक बनाओ। इस देह रूपी घट में आत्मारूपी

नारायण को पहचानकर, जीवन की कृतार्थता का 'कलशाध्याय' लिखकर ही तुम अपने जीवन-ग्रन्थ की परिसमाप्ति करो।

५ / गज लक्ष्मी

वेरुल (एलोरा) की पहाड़ियों में जो गुफाएं हैं ; उनमें कैलाश नाम की अति भव्य और कलापूर्ण एक गुफा है। उसके प्रवेशद्वार पर गजलक्ष्मी के दर्शन होते हैं। उस प्रवेश द्वार के भीतरी भाग में पर्दे के समान एक शिला बीचों-बीच खड़ी है और उसी पर गजलक्ष्मी की आकृति खुदी हुई है। वह सारा चित्र ही विशाल है। नीचे क्षीर सागर की दुग्ध के समान श्वेत लहरें उमड़ रही हैं। उन्हीं में एक सहस्र दल कमल विकसित हो ऊपर आ गया है। उसी कमल पर लक्ष्मी विराजमान है। लक्ष्मी के दोनों ओर जल की सतह पर दो गजराज खड़े हैं। उसी प्रकार ऊपर भी दायें-बायें दो गज खड़े हैं। चारों के ही मुख लक्ष्मी की ओर मुड़े हुए हैं। चारों ही मिलकर लक्ष्मी का अभिषेक कर रहे हैं। नीचे के गज कलश भर कर दे रहे हैं तथा ऊपर के गज अपनी सूंड़ के अग्र भाग से उन्हें पकड़ कर लक्ष्मी के मुकुट-पण्डित मस्तक पर उंड़ेल कर उसे स्नान करा रहे हैं।
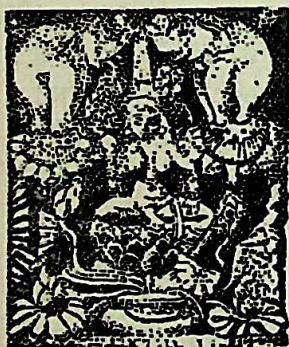
गजलक्ष्मी

कैलाश की ये गुफाएं राष्ट्रकूट राजा ने ईसवी सन् की आठवीं शताब्दी में निर्माण करवाई थीं और अपने अमित

वैभव की द्योतक लक्ष्मी की आकृति उस स्थान पर खुदवाई थी। गुफा में प्रवेश करने वाले दर्शनार्थी उस चित्र को देखे बिना नहीं रहते। उसके बाद कलाकारों ने लक्ष्मी के जिन चित्रों तथा मूर्त्तियों का निर्माण किया वे बहुधा इसी धरती के हैं।

मत्स्य तथा विष्णु धर्मोत्तर इन दोनों पुराणों में कलाकारों के लिए विवरण है कि लक्ष्मी की मूर्ति कैसी और कौन सी वस्तु की निर्मित की जाय।

सम्पत्ति में स्वर्ण का सर्वोपरि स्थान है और लक्ष्मी भी सम्पदा की प्रतीक है। इसलिए उसका स्वरूप गर्म किये हुए स्वर्ण के समान होना चाहिए। वैदिक श्री सूक्त में लक्ष्मी को 'आर्द्रा' कहा गया है। अतएव उसे सदैव जल में स्थित दिखाया जाय। अष्टदल अथवा सहस्त्र दल के विकसित कमल पर उसका आसन होना चाहिए। उसके चार हाथ हों। एक हाथ में कमल, दूसरे में अमृतपात्र और तीसरे में शंख हो। शंख समृद्धि का, सौभाग्य और प्रतिभा का प्रतीक है। इसके अलावा यह विष्णु को भी प्रिय है। चौथे हाथ में श्रीफल अथवा बिल्वफल होना चाहिए। इसलिए कि गोल होने के कारण वह पृथ्वी का प्रतीक है और इसीलिए वह लक्ष्मी के हाथों में दिखाया जाता है। पृथ्वी और लक्ष्मी का अटूट संबंध है, यह इससे सूचित किया गया है। किन्तु गोल होने के कारण बिल्वफल ही क्यों? इसका कारण यह है कि बिल्व (बेल) लक्ष्मी के तप से निर्मित हुआ वृक्ष कहा गया है :

"आदित्य वर्णे तपसोऽधि जातो वनस्पति स्तव वृक्षोऽथ बिल्व:"

ये हुई लक्ष्मी के हाथ की वस्तुएं। इनके अलावा स्नान कराने के लिए दो हाथी उसके पास होने चाहिए। चंवर डुलाने के लिए उसके पीछे दो स्त्रियां होनी चाहिए और स्तुति करने के लिए

विद्याधर, यक्ष, गंधर्व, गुलक आदि उसके आसपास अथवा आकाश में उड़ते हुए हों। यह गजलक्ष्मी का सांगोपांग, सपरिवार तथा सशस्त्र चित्र है।

मूर्तिकला के इतिहास में लक्ष्मी के स्वरूप का एक दूसरा प्रकार भी उपलब्ध है। इस दूसरी मूर्ति के निकट हाथी नहीं और भुजाएं भी दो ही हैं। उसके हाथों में कमल और शंख हैं। उसके मस्तक के ऊपर आकाश में दो विद्याधर झूल रहे हैं और राजलक्ष्मी, स्वर्ग-लक्ष्मी, ब्रह्म-लक्ष्मी तथा जय-लक्ष्मी, ये उसी की अंशभूत देवियां परिचर्या में लगी हुई हैं।

विष्णु-लक्ष्मी मूर्ति

लक्ष्मी सागर की कन्या और विष्णु की प्रिया है। देव और दैत्यों ने मिलकर क्षीर सागर का मन्थन किया और यह उसमें से प्रकट हुई। उसके ऊपर आते ही समुद्रमन्थन करने वाले सुरों तथा असुरों के हाथ एकदम रुक गए। देखते ही देखते उसने सब की नजरें अपनी ओर आकर्षित कर लीं तथा उनके मनों को भी हर लिया। देव, दैत्य, यक्ष, गंधर्व, ऋषि, मुनी आदि पतंगों की भांति उसके विश्वमोहन रूप पर न्योछावर हो गए। उसकी दंतावली की द्युति से पाषाण से पद्मराग वन गया। उसकी मुस्कान से वसुधा पर रत्नराशि विखर गई। उसके पद-पद पर स्वर्ण कमल खिल उठे।

उसे देखते ही देवताओं की उदारता जाग उठी, पहले उसके पिता सागर ने उसे पीले रेशमी वस्त्र दिए। वरुण ने वैजयन्ती

माला दी। विश्वकर्मा ने विविध प्रकार के अलंकारों से विभूषित किया। उस समय लक्ष्मी और सरस्वती में शायद द्वेष नहीं रहा होगा। अतएव सरस्वती ने अपने गले का रत्नहार उतारकर उसके कण्ठ में डाल दिया। नागों ने उसके कानों में कुन्डल पहनाए। अलंकार विहीना लक्ष्मी पलभर में भूषणों से लद गई। इसी प्रकार लक्ष्मी की स्तुति करने को ऋषि-मुनि उसके सामने आ गए। उन्होंने श्री सूक्त से स्तवन किया :—

"कां सोऽस्मितां हिरण्यप्राकारामार्द्रां ज्वलन्तीं तृप्तां तर्पयन्तीम् पद्मे स्थितां पद्मवर्णां तामिहोपह्वये श्रियम्।"

तू साक्षात ब्रह्म रूप है, तेरे मुख पर मन्दस्मित हास्य विलसित होता है। तू स्वर्णावरण से वेष्टित है, तू आर्द्र, तेजोमयी, पूर्णकाम, भक्तों पर अनुग्रह करने वाली, पद्मासनास्थित और पद्मवर्णा है। तेरा मैं इस स्थान पर आह्वान करता हूं।

"चन्द्रांप्रभासां यशसा ज्वलन्तीं श्रियं लोके देव जुष्टामुदाराम्। तां पद्मनमिं शरणमहं प्रपद्येऽलक्ष्मीमे नश्यतां त्वां वृणे।

तेरी कान्ति चन्द्रमा के समान सौम्य है और तू यश से दीप्तिमान है। तू उदार और पद्हस्त है। स्वर्ग में देवता तेरी पूजा करते हैं। मैं तेरी शरण आ गया हूं। तू मेरा दारिद्र्य दूर कर।

लक्ष्मी को तत्काल स्वयम्वर करना था अतएव यह देखने लगी कि उस उपस्थित समाज में मेरे योग्य कौन वर उपयुक्त है। स्तुति करने आए ऋषियों और मुनियों पर उसकी दृष्टि गई तो विचार आया कि आज प्रसन्न होकर ये स्तुति-गान कर रहे हैं तो कुपित होने पर कल शाप भी दे सकते हैं। अतएव ऐसे क्रोधियों से सम्बन्ध उचित नहीं। यह सोचकर उसने ऋषियों की उपेक्षा कर दी। गुरु और शुक्र के समान ज्ञानी भी वहां थे,

परन्तु उनमें उसकी आसक्ति नहीं हुई। शिवशङ्कर, वह चिरायु तो हैं, परन्तु श्मशानवासी हैं। इस प्रकार सभी में न्यूनाधिक गुण-दोष थे। सभी लक्ष्मी के आगे खड़े हो कर बार-बार कह रहे थे : हमें वरो, हमें वरो, परन्तु उसने अपने हाथ की वरमाला किसी के भी आगे नहीं उठाई। लक्ष्मी की निगाह में यदि सकल गुणनिधान कोई थे तो वह थे वैकुण्ठनाथ विष्णु। परन्तु विष्णु तो लक्ष्मी की ओर देख ही नहीं रहे थे। परन्तु लक्ष्मी अपना अभिमान त्याग कर उनके पास जा पहुंची और उसने विष्णु के गले में माला डाल दी। विष्णु ने उसे प्रेम से स्वीकार कर लिया। वैकुण्ठ में स्थान देने से पहले विष्णु ने लक्ष्मी को अपने हृदय में स्थान दिया। विष्णु के श्यामल हृदय में चंपा जैसी गोरी लक्ष्मी विराजमान हुई। उन दोनों के रंगों का सौन्दर्य निरख कर कवि का भावुक मन उल्लसित हो उठा और उसने लक्ष्मी के प्रति अपना आदर भाव अपनी निराली उपमाओं में व्यक्त किया।

नील कमल पर जैसे केसर रंग, या कसौटी के पत्थर पर जैसी स्वर्ण रेखा। मेघ मण्डल में विद्युच्छटा के समान विष्णु के हृदय प्रदेश में शोभित-लक्ष्मी हमारी रक्षा करे।

लक्ष्मी का दूसरा नाम 'श्री' भी है। आजकल श्री और लक्ष्मी समानवाची शब्द माने जाते हैं। लेकिन ऐतिहासिक दृष्टि से पीछे दूर तक सिंहावलोकन करें तो ऐसा लगता है कि 'श्री' बहुत प्राचीन है और लक्ष्मी उसके बाद की है। वैदिक काल में तथा वैदिक साहित्य में शोभा, सुन्दरता और सजावट के अर्थ में 'श्री' शब्द का प्रयोग होता था। जो-जो सुन्दर, कान्तिमान् और मांगलिक होते, उन्हें 'श्री' (श्लील) शब्द से व्यक्त किया जाता था। उस प्राचीन काल में इस श्री की मूर्ति नहीं होती थी। वह केवल भावात्मक थी। बाद में धीरे-धीरे उसे रूप दिया जाने लगा। शतपथ ब्राह्मण में इस सम्बन्ध में एक आख्यायिका है :

प्रजापति तप कर रहे थे। उस तपश्चर्या के प्रभाव से उनके हृदय से श्री देवता देवीप्यमान तथा नारी रूप हो कर वाहर आई और उनके सामने खड़ी हो गई। इसका तात्पर्य यह है कि वैदिक मानव के हृदय में भावात्मक रूप से निवास करने वाली श्री ने प्रजापति के काल में देवी का रूप धारण किया।

इस देश में ऐसी दूसरी अवैदिक संस्कृति सिन्धु संस्कृति थी। उस संस्कृति के मानने वालों में मातृ पूजा प्रचलित थी। माता अर्थात् महामाया, उनकी प्रधान देवता थी। दोनों संस्कृतियों के संगम की प्रक्रिया के काल में श्री और माता इन दोनों देवताओं का समन्वय हुआ होगा। ऋग्वेद में श्री-देवता का लक्ष्मी से कोई सम्बन्ध नहीं मिलता। तैत्तिरीय संहिता में विष्णु की स्त्री के नाते लक्ष्मी के स्थान पर अदिति का आह्वान करना मिलता है : यह मंत्र द्रष्टा का कथन है : "सरलतापूर्वक पुष्कल दुग्ध देने वाली तथा कृपालु और विश्वसाम्राज्य की अधिष्ठात्री अदिति हम पर अनुग्रह करे।

मातृत्त्व लक्ष्मी की विशेषता है। कहीं-कहीं उसकी तुलना पृथ्वी से भी की गई है और उसके सहस्र स्तनों से दुग्ध-धारा सदैव वहती रहती है, ऐसा उल्लेख देखने में आता है। कहीं स्तनों से दूध निकलता दिखाने वाली श्री की मूर्ति भी मिलती है। ऐसा तर्क भी प्रस्तुत होता है। वैदिकों की अदिति श्री से संयुक्त होकर फिर अवैदिकों की मातृदेवता में मिल गई हो। मातृदेवी पृथ्वी की ही प्रतीक है। यह मानने में आपत्ति नहीं कि अदिति, माता और पृथ्वी इनके पुराने सम्बन्ध को लक्ष्मी के हाथ में बिल्वफल देकर शिल्पकार व्यक्त करता है। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल की मान्यता है कि अदिति पूर्णरूप से श्री नहीं, परन्तु उसके कुछ गुण कालान्तर में श्री रूप में सम्मिलित हुए हैं। आगे चलकर यही श्री देवता लक्ष्मी के रूप में समा गई।

लक्ष्मी के क्षीर सागर से निकलते ही ऋषियों ने उसकी श्री सूक्त से स्तुति की, पुराणों के इस वर्णन से प्रकट होता है कि पौराणिक युग में श्री देवता अपनी सत्ता को लक्ष्मी के रूप में विलीन कर चुकी थी।

भारतीय इतिहास में गुप्त साम्राज्य का समय पुराणों क उत्कर्ष का काल माना जाता है। इस काल में लक्ष्मी पूजा को असाधारण महत्त्व प्राप्त हुआ। गुप्त सम्राटों को अपने साम्राज्य का विस्तार करना था। उत्पादन और व्यापार के द्वारा सम्पत्ति का सञ्चय करना था। केवल साहित्य तथा ललित कला के क्षेत्रों में नहीं, वल्कि जीवन के सभी अंगों में समृद्धि और सौन्दर्य लाने थे। इस कारण उस समय के राजा, वणिक और उद्योगपति सभी लक्ष्मी की उपासना करते थे। गुप्ते सम्राटों के सिक्कों पर लक्ष्मी की ही मूर्ति अङ्कित है। उज्जयिनी में प्राप्त राजकीय मुद्राओं पर भी लक्ष्मी के चित्र दीख पड़ते हैं। उससे पूर्व के बौद्ध-युग में लक्ष्मी का कोई विशेष आदर दिखलाई नहीं पड़ता। 'मिलिन्दपद्म ग्रंथ में उनके सम्प्रदाय को गुप्त मान कर 'ब्रह्म जाल सुत्त', में उसकी उपासना को वर्जित ठहराया गया है। केवल बौद्ध कलाकारों ने ये निषेध और नियंत्रण नहीं माने।

उदाहरण स्वरूप भरहूत की मूर्तिकला में 'सिरि मा' नाम का देवता कोरा हुआ मिलता है। उसके आसपास लक्ष्मी का परिवार नहीं, फिर भी उसके दाहिने हाथ में रखे हुए कमल से और 'सिरी+मा' इस सादृश्य से भी कि वह श्री यानी लक्ष्मी है, यह सहज ही जाना जा सकता है। सांची के एक स्तूप पर कमलवन में खड़ी हुई तथा दोनों हाथों में खिला हुआ कमल लिए हुए जो नारी मूर्ति है, वह लक्ष्मी के सिवाय और कौन हो सकती है। मथुरा की मूर्तिकला भी बौद्धों की है, कला का रूप मानी गई है। वहां की लक्ष्मी का चित्र सबसे अधिक कलात्मक और सुंदर

है। उसके सबसे नीचे पूर्ण कलश है। उसमें पत्तों सहित कमल का गुच्छा है। उसमें से लक्ष्मी की मूर्ति ऊपर आई है। उसके पास मोरों की जोड़ी है। और उसने अपना वायां स्तन दबाकर पकड़ा हुआ है।

दक्षिण के महाबलिपुरम में लक्ष्मी की मूर्ति भद्रासन लगा कर कमल पर बैठी है। राजा रविवर्मा के कमल-आरूढ़ लक्ष्मी के चित्र सभी जगह देखने को मिलते हैं। आधुनिक कलाकारों में सुनीलपाल का रेखांकित चित्र अभिनव है, और भारत की भावी समृद्धि तथा महत्वाकांक्षा का द्योतक है। गजलक्ष्मी अब पुरानी पड़ गई। अब भारत की साधारण जनता के लिए ऐसी ग्राम लक्ष्मी का उद्भव होने वाला है। जो अन्न-वस्त्र से परिपूर्ण हो, इसलिए इस आधुनिक कलाकार ने अपनी अभिनव लक्ष्मी के दाहिनी ओर कृषि और बायीं ओर बुनाई के दृश्य चित्रित करके भारतलक्ष्मी को उस परिवार में खड़ा किया है।

क्षीर-सागर लक्ष्मी का पीहर है तथा वैकुण्ठ ससुराल है। परन्तु वह इन दोनों ही स्थानों पर नहीं ठहरती। वह समस्त पृथ्वी पर अखण्ड गति से भ्रमण करती रहती है। देश-देशांतर में घूमती फिरती है। किसी के सामने मुंह तो किसी के सामने पीठ फेर लेती है। वह तेज दौड़ने वाली है। सारी दुनिया उसके पीछे मरते दम तक दौड़ती रहती है। इस दौड़ में गरीब और निर्बल पीछे धकेल दिये जाते हैं। अपने लिए लक्ष्मी की प्राप्ति की धुन में दूसरों के मार्ग में कांटे बिखेरते हैं। नीति-अनीति और विधि-निषेध की परवाह किये बिना वे उसे अपने अधिकार में कर लेना चाहते हैं। लक्ष्मी ऐसे ही लोगों के कब्जे में तथा कोश में बंद देखी जाती है। विवश होकर लक्ष्मी उनके ऊंचे-ऊंचे महल खड़े करती है और उनके घरों को चमका देती है। परन्तु लक्ष्मी मन से ऐसे लोगों को पसन्द नहीं करती। वास्तव में उसका

निवास कहां रहता है, यह स्कन्द पुराण में लक्ष्मी ने स्वयं कहा है :

"धर्मपरायण, संयमी, निरभिमानी, परोपकारी, मधुर-भाषी और लोगों से प्रेम करने वाले मुझे प्रिय हैं। त्याग, पवित्रता और सत्य, ये तीन गुण जिन सत्पुरुषों ने आत्मसात् किये हैं, उन्हीं के घरों को मैं अपनी पीहर बनाती हूं। सत्वशील पुरुषों तथा पतिव्रता स्त्रियों के भंडार में कदाचित् मैं न भी रहूं, तथापि उनके चेहरों पर मेरी झलक दीख पड़ती है। मुझे कलह और निन्दा तनिक पसन्द नहीं। संकुचित मन और स्वार्थ से मुझे घृणा है। मैं जहां रहती हूं वहां धन-धान्य, सुख-समृद्धि और यश कीर्ति विपुल मात्रा में रहती है। कहते हैं, लक्ष्मी के मन में एक बात शूल की भांति चुभती रहती है। जो उसे अप्रिय हैं वे तो उसे चारों ओर से घेरे रहते हैं परन्तु जिन्हें वह चाहती है वे :

'लक्ष्मी तृणाय मन्यन्ते' अर्थात् लक्ष्मी को तिनके के समान समझते हैं। मनुष्य ने जो प्रथम कला प्राप्त की, वह वाणी अथवा सरस्वती थी। उसे प्राप्त करके ही मनुष्य पशुओं से पृथक हो सका। इसी वाणी के द्वारा जगत के प्रथम जन-समुदाय ने एक दूसरे को पुकारा, एक दूसरे से सलाह करके शिकार किया और शिकार करके जो प्रेरणा हुई उसे एक स्वर में गाकर अपनी प्रसन्नता व्यक्त की। पाषाण और धातुओं के हथियार, मिट्टी के भांडे, मूर्तियां चित्र आदि सारी विधाएं तथा कलाएं वाणी का साक्षात्कार होने के बाद ही उसे मिली हैं।

जब वाणी सुसंस्कृत होती है, तब उसे सरस्वती का स्वरूप प्राप्त होता है। पहले-पहल वाणी ने सरस्वती का आकार ऋषि के अन्तःकरण में धारण किया। ऋषि को संसार के वस्तुओं के नामकरण की प्रेरणा दी। आजतक जो पवित्र और श्रेष्ठ भाव उसने अपने हृदय में जतन से संजो रखे थे, उन्हें उसने सरस्वती

की सहायता से व्यक्त किया। जिस प्रकार सूप से अनाज साफ किया जाता है, उसी प्रकार विचारकों ने शब्दों को फटक-फटक कर भाषा का निर्माण किया। तब लक्ष्मी ने उस वाणी को अपनी निधि समर्पित की। वेदों का कथन है कि वाग्देवता का विस्तार इसी यज्ञ के मार्ग से हुआ है। अनेक ऋषियों ने उसे अंगीकार करके अनेक भागों में बांट दिया।

इसका अर्थ यही है कि सरस्वती वैदिक काल जितनी प्राचीन है। ऋग्वेद में तीस-पैंतीस स्थानों पर सरस्वती का उल्लेख और उसकी प्रार्थनाएं मिलती हैं। लेकिन अधिकतर में सरस्वती नामक नदी का ही उल्लेख है।

"अंवितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।"

इस मंत्र में सरस्वती का ही नाम है। इसका कारण यह है कि समस्त नदियों में सरस्वती नदी विशेष रूप से श्रेष्ठ है। परन्तु—

"प्रणोदेवी सरस्वती वाजेभिर्वाजि नीवति। धीना मवि-त्र्यवतु" इस मंत्र में सरस्वती नदी नहीं, वाग्देवता है।

६ / त्रिमूर्ति

मानव जाति की प्रारंभिक अवस्था में उसका भगवान अन्त-रिक्ष में कहीं रहता था। उसका रंग, रूप आकार कुछ भी नहीं था। वह अदृश्य और अव्यक्त था परन्तु पग-पग पर आघात तथा उत्पात के रूप में साक्षात प्रकट होता था। उस समय मनुष्य भगवान से बहुत भयभीत था। इसलिए भगवान उसके दैनिक व्यवहार में विघ्न पैदा न करें, उसे सुख शान्ति से जीवन-यापन करने दे, इस भावना से वह किसी वृक्ष के नीचे अथवा किसी

पाषाण खण्ड के आगे पशुबलि देकर भगवान को सन्तुष्ट करने का प्रयास करता था। वास्तव में कहा जाय तो वह भगवान से पीछा छुड़ाना चाहता था।

बाद में मनुष्य का मन धीरे-धीरे विकसित होने लगा। तब उसकी ईश्वर-विषयक कल्पना भी विकसित होने लगी। वह भगवान के रूप की कल्पना करने लगा। उसकी शक्ति की खोज करने लगा। उसके स्तोत्र रच कर गाने लगा, अपने दैनिक कल्याण के लिए उसका आह्वान करने लगा। उससे भयभीत होने की अपेक्षा स्नेह करने लगा।

अन्त में एक दिन ऐसा आया कि एक प्रतिभा सम्पन्न मनुष्य ने, अर्थात् वेदोक्त नारायण ऋषि ने, भगवान को पुरुष के रूप में देखा। भगवान और कोई नहीं 'पुरुष' है, ऐसा उसे साक्षात्कार हुआ। प्राकृतिक शक्ति के दिव्य रूप का विकास होते-होते वह पुरुष में अर्थात् मनुष्य में आकर प्रविष्ट हो गया। ईश्वर की पुरुष कल्पना ने देवताओं के समग्र इतिहास में विलक्षण क्रान्ति उत्पन्न कर दी। मनुष्य आत्मा के रूप में भगवान को देखने लगा। तर्क तीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी का कहना है कि यह बात समस्त धर्मों के इतिहास में क्रान्तिकारक है। यहीं से अध्यात्म विद्या का श्रीगणेश हुआ।

'ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' यह आश्वासक उद्घोष उसके बाद ही संभव था। भक्ति अथवा उपासना का युग भी इसके आगे प्रारंभ होता है।

यह ज्ञान होने पर कि ईश्वर पुरुषों में पुरुषोत्तम है, मनुष्य उसकी ओर अनोखी निगाह से देखने लगा। यह निगाह थी प्रेम की, 'त्वमेव शरणं गच्छ' इस भाव की तथा कला की भी। फिर मनुष्य को लगा कि क्यों न हम अपने परमप्रिय परन्तु निराकार भगवान को साकार रूप दें। उसे हाथ पांव तथा मुख से मण्डित

करें। उसे आभूषणों से अलंकृत करें।

यह सोचकर उसने छेनी हथौड़ी आदि सुविधाजनक उपकरण एकत्र किये। फिर वह जिस पत्थर को भगवान मानता था, उसमें उसने रेखाओं द्वारा ईश्वर को मूर्त्त रूप प्रदान किया। बाद में इसी प्रकार अनेक पत्थरों में मूर्तियां और मन्दिर कोरने लगे। अपनी अपेक्षा भगवान में कितनी भारी शक्ति है, यह उसे पता था। इसी लिए उसने विष्णु को चतुर्भुज तथा देवी को अष्टभुजी बनाया। ब्रह्मा के चार मुख बनाए। शिव के भाल पर तीसरा नेत्र जोड़ा। अग्नि के चार सींग तथा तीन पैर बनाये। ईश्वर में इच्छा, ज्ञान और क्रिया—इस त्रिविध सामर्थ्य की गरिमा बताने के लिए अनेक कल्पनाएं अपनाईं।

फिर कलाकारों की कल्पना ने और भी आगे दौड़ लगाई। उन्हें लगा कि शिव और पार्वती यदि मन से अभिन्न तथा समरस हैं तो देह से भी उन्हें एक ही क्यों न दिखाया जाय? इस विचार से अर्द्धनारीश्वर प्रकट हुआ। "शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च-हृदयं शिवः" तत्त्व वेत्ताओं की यदि ऐसी मान्यता है, हरि और हर में यदि एक इकार की मात्रा का ही अन्तर है, तो विश्व के इन दो महान् मूल-स्तम्भों के ऐक्य को क्यों न एक मूर्ति में व्यक्त किया जाय? इससे हरि-हर मूर्ति को जुड़वाँ रूप दिया गया। उपास्य देवों में ऐक्य स्थापित किया गया तो शैव और वैष्णव के मन भी एकाकार हों, यही उनमें उपकारक तथा उदार भावना थी। महादेव का उग्र रूप तो रूद्र तथा सौम्य रूप शिव एक ही तत्त्व की यह द्विविध प्रकृति है।

शिव के उग्र तथा सौम्य इन दोनों रूपों को अनुप्राणित करने वाला जो तत्त्व है, उसे शक्ति कहते हैं। वह रुद्र को थामे रहती है, तो शिव को भी नहीं छोड़ती। वह स्वयं कार्यरूप है तथा ये दोनों रूप उसके प्रेरक हैं। रुद्र की आज्ञा से वह सृष्टि

को भस्म कर सकती है तो शिव की आज्ञा से जगत का पालन भी कर सकती है। इसी से विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय है। यह सब विचार करके उन कलाकारों के ध्यान में आया कि रुद्र, शिव और उमा, इन तीनों ही शक्तियों को क्यों न एकाकार कर दिया जाय ? उनके प्राकृतिक ऐक्य को मूर्ति के रूप में क्यों न सर्व-सुलभ बना दिया जाय ?

और इसी प्रतिमा के नवोदय से त्रिमूर्ति का शिल्प सगुण और साकार हुआ।

त्रिमूर्ति

यहां एक बात ध्यान रखने योग्य है कि त्रिमूर्ति शिल्प ब्रह्मा-विष्णु-महेश का नहीं रुद्र, शिव और उमा का है। परन्तु कार्य उनके ही कार्य समान हैं: विश्व का निर्माण, पालन तथा

संहार। परन्तु यहां वही आशय शैव परिभाषा में व्यक्त किया गया है।

त्रिमूर्ति की मूल प्रकृति के भव्यदर्शन हमें धारा पुरी की गुफाओं में होते हैं। धारा पुरी एक द्वीप है, जैसे समुद्र-मंथन के परिणामस्वरूप भूमि में लिंग। यह स्थान बम्बई के अपोलो वन्दर के ईशान कोण में लगभग सात मील के अन्तर पर है। वहाँ कैलाश नामक गुफामंदिर में इस मूर्ति का निवास है। यह भव्य मूर्ति पश्चिम सागर के सान्निध्य में रहकर वहां आने वाले कलाकारों, रसिकों तथा अभ्यागतों का मानो अपने छह होठों द्वारा आह्वान करती है और यह सातों नेत्रों से देखती रहती है कि दर्शन के लिए कौन आ रहा है।

इस मूर्ति के ऊपरले भाग में कोरा हुआ एक पत्थर है। इसकी हल्की तथा जगमगाती छाया मूर्ति पर सदैव पड़ती रहती है और मूर्ति को कुछ अनोखी रमणीयता प्रदान करती है। आपके मन पर भी उस गांभीर्य की छाया पड़े विना न रहेगी। लेकिन आप विना किसी हिचक के आगे वढ़िए। ठीक सामने जाकर खड़े हो जाइए। मूर्ति का ठाट-बाट, उसका सौष्ठव, उसकी भव्यता और उसके एकत्व में भी भिन्नत्व, ये सब कुछ अभिव्यक्त करने के लिए कलाकार ने दैवत शास्त्र का उल्लंघन नहीं करते हुए इस चतुराई से काम लिया है कि उस आकार से व्यक्त होने वाले दार्शनिक रहस्य को आप अपनी बुद्धि के अनुसार समझ कर, फिर उस विश्वं वंद्य कलाकार की कलाकृति के चरणों में भाव-पूर्ण सादर प्रणाम करें।

अब आप को उस मूर्ति का निरीक्षण कराते हैं। इसके लिए वाएं से दाहिने चलने की सर्वमान्य पद्धति का अवलंवन करें। पहला मुखौटा रुद्र का है, यह आपको उसकी मूछों से पता लगेगा। मरोड़ी हुई मूछें उग्रता की अभिव्यक्ति के लिए हैं। इस मुद्रा का

सारा विवरण भयोत्पादक है। आंखें कुछ मुंदी हुई हैं, परन्तु पलकें भारी तथा सुपारी की भांति उभरी हुई हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके खुलते ही ब्रह्माण्ड को भस्म कर देने वाला ज्वालामुखी फूट पड़ेगा। जटा-जूट में इधर-उधर बिलबिलाते हुए सर्प हैं। इनसे जटा बंधी हुई है। उनमें कुछ सर्प निकल भागने का प्रयत्न करते प्रतीत होते हैं। उसी जगह नरकपाल दीख पड़ता है। वहीं बेल-पत्र भी हैं। त्रिमूर्ति में तीन पत्तों वाले बेल-पत्र की योजना कलाकार ने प्रेक्षक को यह बताने के लिए की है कि यह त्रिमूर्ति एक ही रूप के तीन पत्ते हैं। दाहिना हाथ हृदय पर खड़ा कर रखा है। उसकी हथेली दीख पड़ती है। यह अभयहस्त है। परन्तु है रुद्र का। इसको न भूलें इसलिए इस पर नाग लिपटा है। जीभ थोड़ी सी बाहर निकली हुई है मानो काल सर्पिणी है।

रुद्र अर्थात मनुष्यों को रुलाने वाला। रोदयति सर्वमन्त काले इति रुद्रः, यह इस शब्द की परिभाषा है। इसीलिए उसका दूसरा नाम 'घोर' है। अग्नि और रुद्र का परस्पर तन-प्राण सम्बन्ध है। अग्नि रुद्र का वीर्य है, यह 'कृशानुरेतस्' नाम से प्रकट होता है। रुद्र पशुपति है, परन्तु वह पशु पर आक्रमण भी करता है। इसलिए उसे प्रसन्न करने के लिए 'शूलगव' नामक यज्ञ करना पड़ता है और बैल की बलि देनी पड़ती है। यह श्रौत सूत्रों का कथन है।

बीच का मुखौटा शिव का है। यह रूप रुद्र से भिन्न है और उसके अलंकार भी भिन्न हैं। वह शान्त और समाहित है, राग लोभ आदि विकारों से रहित है। उसके जटाजूट में कीर्तिमुख है। यह अतिरंजित तथा सिंह मुख है। उसका और शिव का अटूट सम्बन्ध है। उसे यही वरदान मिला है। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि यहां उसका उग्रत्व प्रतीत नहीं होता। अब

शान्त, सौम्य और सुन्दर प्रतीत होने वाली चन्द्रकला को देखिए इसके कारण शिव और पार्वती में कई बार ईर्ष्या-कलह हुई है। यह भी जटा में विराजमान है। वह छोटी है, परन्तु फिर भी शिव की सौम्यता कई गुना बढ़ा रही है। कानों में मकर-कुण्डल लटक रहे हैं। दोनों होंठ कुछ मोटे और बाहर की ओर निकले हुए हैं। ऐसा लगता है जैसे शिव को कुछ संदेश देना चाहते हैं। मनुष्य जाति के लिए कोई कल्याण-सूत्र कहना चाहते हैं। उसके अक्षर मानो उन होठों के पीछे जमा हो गए हैं और होंठ उन्हें आगे ढकेल रहे हैं।

शिव अर्थात समुद्र मंथन से निकले हुए विष को पान कर विश्व को बचाने वाला। स्वयं श्मसानवासी होने पर भी ज़गत के लिए मंगलमय उपवन का निर्माता। स्वयं कौपीनधारी लेकिन भक्तों को समृद्धि देने वाला। विश्व कल्याण में ध्यान मग्न। थोड़ी सी पूजा अर्चना से प्रसन्न होने वाले भोला भंडारी।

तीसरा अर्थात दाहिनी ओर का मुखौटा शक्ति यानी उमा का है। उमा, यानी मूर्तिमति सुन्दरता। अलंकारों को भी शोभित करने वाली रूप-साम्राज्ञी। उसकी मुद्रा गढ़ते समय कलाकार अत्यन्त कोमल हो गया है। यही क्यों, वह कठोर पाषाण भी मानो कलाकार का दिया हुआ रूप ग्रहण करने के लिए मोम से भी मुलायम बन गया। उमा के कानों में शंखपत्र हैं और उसके नीचे कालिका सहित मुकुलित कमल शोभायमान है। मुकुट पर रत्नमाला लटक रही है। उमा के रेशम जैसे केश जो वेणी में नहीं बंध सके, धीरे से मुकुट के बाहर निकले प्रतीत हो रहे हैं। उस मुकुट के सबसे ऊपर कमलपत्र है। वहीं अशोक पत्र भी दीख पड़ते हैं। यह सब सुन्दरता और कोमलता का आविष्कार है।

चन्द्र गता पद्म गुणान्नमुक्ते पद्माश्रितां चान्द्रमंसीमभि-

श्याम । उमामुखं तु प्रतिपद्य लीला द्विसंश्रायाप्रीतिमवाप लक्ष्मीः ।।

लक्ष्मी के दो अधिष्ठान हैं : चन्द्रमा और कमल। परन्तु जब लक्ष्मी चन्द्र मंडल पर आरूढ़ होती है, तब कमलगत सौन्दर्य नीचे ही रह जाता है। और जब वह कमल पर बैठती है तब चन्द्रमा की संजीवता अलग पड़ जाती है। लेकिन लक्ष्मी जब उमा के मुख पर अधिष्ठित होती है, तब चन्द्रमा और कमल इन दोनों अधिष्ठानों का कान्ति वैभव उसे प्राप्त होता है। कालिदास का यह उमा वर्णन यहां हठात् स्मरण होता है।

उमा यानी शक्ति। इसका वर्णन महाराष्ट्र के एक लोक-कवि ने किया है। वह कहता है कि शक्ति ही प्रथम अव्यक्त निर्गुण और निराकार थी। भगवान शून्य में, अर्थात ऐसी अवस्था में, सोया पड़ा था, जिसमें ऊपर-नीचे, आगे-पीछे कुछ भी नहीं था, उसके मन में स्मरण हुआ कि मुझे शक्ति चाहिए। इस इच्छा-मात्र से शक्ति उत्पन्न हो गई। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश, इन तीन महान देवताओं की उत्पत्ति उसके पश्चात् हुई। आगे चल कर वही नारायण शिव हुआ और शक्ति उमा होकर उसकी अर्द्धांगिनी बनी।

त्रिमूर्ति में इन तीनों रूपों का अवलोकन करते समय यही विशाल दृष्टिकोण सामने रखना पड़ेगा, क्योंकि मैं पहले ही कह चुका हूं कि यह त्रिमूर्ति कला के माध्यम से पाषाण की भाषा में अभिव्यक्त एक महान रहस्य है। यह विश्व में और विश्व से परे भी तीनों कालों से अप्रभावित सत्य है।

भारतीय संस्कृति में त्रिक के विषय में विशेष प्रेम और कौतूहल चला आ रहा है। तीन की संख्या की परिभाषा में कही जाने वाली यह एक पहेली है। एक वैदिक ऋषि ने तीन की संख्या का एक सूक्त ही लिख डाला है। पुराणों में, वेदान्त में

तथा नीतिशास्त्र में तीन की संख्या की महत्ता है। तीन लोक : स्वर्ग, मृत्यु, पाताल। तीन अवस्थाएं : आदि, मध्य और जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति। तीन संध्याएं : प्रातः, मध्याह्न तथा सायं। तीन मार्ग : कर्म, भक्ति और ज्ञान। तीन ऋण : देवऋण, पितृ-ऋण और ऋषिऋण। तीन आत्मस्वभाव : सत, चित् और आनन्द। यह सब त्रिक का ही प्रपंच है। इस प्रकार यह त्रिक विश्वव्यापी है। इसी त्रिक्तत्व से मानव जीवन ओतप्रोत है। सांख्य शास्त्र तो तीन गुणों पर ही आधारित है।

विश्व का स्वरूप त्रिगुणात्मक है। सुख और प्रकाश ये सत्व-गुण के परिणाम हैं। प्रवृत्ति और हलचल, रजोगुण के प्रभाव हैं। माया, प्रतिबन्ध, मोह तथा अज्ञान, ये तमोगुण के लक्षण हैं। त्रिगुण ही विश्व के मूल कारण है। तीन पतले डोरों को वंट कर तिहरा डोरा बनाते हैं। उसी के समान तीन गुणों के मिश्रण से यह विश्व प्रपंच खड़ा है। जगत की प्रत्येक वस्तु में कमो-बेश ये तीनों गुण हैं। यही आशय इस त्रिमूर्ति तत्त्व में झलकता है। शक्ति रजोगुण का स्वरूप है। शिव सतोगुण और रुद्र तमोगुण का पुतला है। यह विश्व इस त्रिमूर्ति का ही लीला-विलास है।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं—

"भारतीय कला ने अपने अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए अनेक मनोहर सूत्रों का निर्माण किया है। इस त्रिमूर्ति के पीछे दार्श-निक चिन्तन का कितना रहस्यमय संकेत है। प्रणव से लेकर त्रिगुण पर्यन्त विराटभावों की अभिव्यक्ति के लिए कला ने 'त्रिमूर्ति' के प्रतीक का निर्माण किया और वह सबके संतोष का कारण वनी। त्रिमूर्ति मानो भारतीय दर्शन की प्रतिमा है। तत्त्व-ज्ञान के आंगन में खड़े रहकर जब हम 'एकेव मूर्ति विभिदेत्रि-धासा' इस रहस्य का उद्घोष करते हैं, तब कला द्वारा घड़ी गई

यह प्रतिमा मानो उस घोषणा को साकार कर देती है। कैलास मन्दिर (धारा पुरी) की यह प्रतिमा भारतीय दर्शन की अमर प्रतीक बनकर भारत के समुद्री महाद्वार की दहलीज पर खड़ी है। 'दर्शन' ही भारत की आत्मा है, यही वह उद्घोष करती है।

७ / दीप-शिखा

कार्तिक कृष्ण पक्ष के अन्त में दीपावली का पर्व आता है। चतुर्दशी और अमावस्या की घनघोर अंधेरी रात. उस दिन चन्द्र और सूर्य एक राशि में आ जाते हैं तथा चन्द्रमा अपनी संपूर्ण कलाओं से क्षीण हो जाता है। इसीलिए उन दो दिनों में सारी पृथ्वी पर अंधकार छा जाता है। और यदि उस पर भी शरदकालीन मेघ-खंडों के भागते हुए झुंड आकाश में घिर आएं तब तो घटाटोप अंधकार हो जाता है। इस घने अंधकार का संस्कृत के एक कवि ने बहुत सुन्दर वर्णन किया है :

"लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निस्फलतां गता ॥"

मानों मेरे समस्त शरीर पर अंधकार का लेप किया हो। आकाश जैसे काजल की वर्षा करता हो। और दृष्टि तो असत्पुरुषों द्वारा की हुई सेवा के समान निष्फल होती है।

परन्तु दीपावली आते ही अमावस्या के अंधकार को उज्ज्वल तथा प्रकाशमान कर देती है। दीपावली का अर्थ है दीपों की कतार, दीपों की शोभा या दीपोत्सव। दीपावली का प्रथम दीपक धन-त्रयोदशी की रात को जलाया जाता है। कहा जाता है कि यह यमराज को प्रसन्न करने के लिए जलाया जाता है। इसे उत्तर भारत में 'यमदीवा' तथा दक्षिण में 'यमदीपदान' कहते हैं।

यम का अर्थ है कृतान्त अथवा काल ! अमीर-गरीब, छोटा-बड़ा, सज्जन-दुर्जन आदि किसी पर भी दया न करके सबके गले में मौत की रस्सी डालकर प्राण लेने वाला। ऐसे प्राण लेने को दीपदान करना सांप को दूध पिलाने जैसी बात नहीं तो क्या है ? परन्तु इस शंका को दूर करने के लिए नीचे लिखी कहानी पढ़ने योग्य है—

"एक दिन यमराज ने अपने दूतों को बुलाकर उनके कार्य का लेखा-जोखा लिया। बातें करते कराते यमने उनसे हंसकर पूछा : 'जीवों का प्राण लेते समय जब तुम उनके गलोंमें यमपाश डालते हो तब क्या तुम्हें दया नहीं आती ?'

"उनमें से एक दूत ने हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक उत्तर दिया— 'महाराज ! यह तो हमारा रोज का काम है। तब दुःख के लिए जगह ही कहां ? जो रोज मरे उसे कौन रोये, मनुष्यों में यह कहावत प्रसिद्ध है। वही हमारी दशा है। लेकिन एक ऐसी घटना याद आ रही है कि जिसने हमारे दिल भी हिला दिये।'

"यम ने पूछा:—'किस समय की घटना है ?' यमदूत ने बताया. यह घटना उस समय की है जब हम हेमराजा के तरुण पुत्र के प्राण हरण करने गए। वह पुत्र मनौती करने पर हुआ था। परन्तु कात्यायनी देवी ने आकर राजा से कहा: तुम्हारा यह पुत्र अपने विवाह के चौथे दिन मर जायगा।'

"यह बात हेमराजा के हृदय पर भाले की तरह लगी। राजा ने उस बालक को महलों से निकालकर यमुना के किनारे गुफा में छिपा दिया, वह वहीं बढ़ने लगा। जब वह सोलह वर्ष का हो गया तो रानी के आग्रह पर उसके विवाह का प्रबन्ध किया गया। सगाई के बाद विवाह की रीतियाँ बड़े ठाठ-बाट से सम्पन्न हुईं।

"विवाह के चौथे दिन, जो उसकी मृत्यु के लिए निश्चित् था, हम वहां गये और हमने पाश डालकर उसके प्राण हर लिये।

उस समय उसकी नवविवाहित वधु ने जो विलाप किया, उसने हमारे भी हृदय को विदीर्ण कर दिया। उसे सुनकर हमारा कलेजा टूक-टूक हो गया। परन्तु हम कर भी क्या सकते थे ? हम तो आप की आज्ञा से बंधे थे। उस राजपुत्र को हम यमलोक में ले आए और दीर्घकाल तक उसकी नव-वधु का विलाप हमारे कानों में गूंजता रहा। महाराज, हम आपसे एक प्रश्न पूछना चाहते हैं।

"यम ने कहा :—'क्या पूछना चाहते हो ?'

"भरी जवानी में मनुष्य की अकाल मृत्यु को टालने का कोई उपाय नहीं है क्या ?"

"है क्यों नहीं ? एक उपाय है। धनत्रयोदशी के दिन, प्रदोष काल के समय जो मुझे दीपदान करते हैं, उनकी अकाल मृत्यु नहीं होती।

"यह सुनकर यमदूतों को अत्यन्त आनन्द हुआ।"

इस कथा में दीपदान माहात्म्य बतलाया गया है। अंधेरे का अर्थ है, मृत्यु तथा प्रकाश का अर्थ है जीवन। अन्धकार में चिन्ता, रोग, मृत्यु तथा यमदूत को रहने के लिए स्थान मिलता है। प्रकाश में इन सबका परिहार होता है। जहां-जहां दीप ज्योति जलती है, वहां-वहां प्रकाश पहुंचता ही है और वह प्रकाश अपने साथ उल्लास, पवित्रता और शुभ-कामनाओं को भी लेकर आता है। देवत्व का लक्षण है प्रकाश। 'प्रकाश लक्षणादेवा:'। हमारे दर्शनशास्त्रों में आत्मा को 'स्वयं ज्योति' तथा 'स्वयं प्रकाश' कहा है। दीप ज्योति ही स्वयंप्रकाशित आत्मारूपी राजाकी प्रतीक बनकर ऊपर आई है। दीपज्योति, अर्थात् उपाधि के आवरण से मुक्त होकर अपने साथ औरों को प्रकाश देने वाली आत्म-ज्योति !

कहना चाहिए कि भारतीय संस्कृति ने दीपोत्सव तथा दीप-

दान, को बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है —

दीपज्योतिः परं ब्रह्म दीपज्योतिर्जनार्दनः।
दीपो हरतु पापानि संध्यादीप ! नमोऽस्तुते ॥

इस श्लोक में संध्या के दीपक को पापविनाशक बतलाकर परब्रह्म से उसकी तुलना की गई है। भारतीय गृहणियां सांझ हुई कि मन्दिर में देवता के निकट और आंगन में तुलसी चबूतरे के समीप संध्या का दीपक जलाती हैं। महाराष्ट्र में गृहणियां दीप के पास खड़े हुए अपने बच्चों से बुलवाती हैं: "दिव्या दिव्या दीपाकार कानी कुण्डल मोती हार, दिव्याला देखून नमस्कार।" (दिये रे दिये ! तू जगमग जगमग कर, तेरे कानों में कुण्डल तथा गले में मोतियों का हार है, मैं दीपक को देखकर नमस्कार करता हूं।)

दीप-शिखा

यह दीपज्योति भारतीय संस्कृति में विभिन्न नाम रूपों से पुकारी जाती है। दीपावली पर जो दीपक आकाश में ऊंचा लटकाया जाता है। उसे आकाश-दीप कहते हैं। वह दीपक स्वर्गवासी पितरों को प्रकाश देता है तथा उनके प्रवास-मार्ग को आलोकित करता है। महाराष्ट्र में विवाह के समय वांस की खपच्चियों से बनी एक पेटी में दीपक रखकर वर या वधु की बहन उसे लेकर उनके पीछे खड़ी रहती है। इसे 'शकुन-दीप' कहते हैं।

भाद्रपद की ग्रमावस्या (पिठौरी ग्रमावस्या) को चावल के ग्राटे के दीपों का पूजन किया जाता है। मंगल गौरी की पूजा के लिए तथा विवाह के वाद जो दीपक रखा जाता है उसे 'पिष्ट-दीप' कहते हैं। मंगल, गौरी की पूजा के लिए तथा विवाह के वाद के समय जो दीपक स्थापित किया जाता है, उसे साक्षी दीपक कहते हैं। शिव मन्दिर में ग्राठों पहर ग्रखंड जलने वाला दीप 'नंदा-दीप' कहलाता है। शोध की जाय तो ऐसे ग्रनेक प्रकार के दीपक निकल सकते हैं।

दीपावली की पड़वा को पत्नी पति की ग्रारती उतारती है। भाई दूज के दिन वहन भाई की ग्रारती उतारती है। विवाह के ग्रवसर पर सौभाग्यवती स्त्रियाँ वरवधु की ग्रारती उतारती हैं। महाकवि कालिदास ने 'वाजिनो राजन विधि' ग्रर्थात घोड़ों की ग्रारती का उल्लेख किया है। हमारे यहां (महाराष्ट्र में) ग्राज भी भाद्रपद मास में वैलों को सजाधजा कर उनकी ग्रारती उतारते हैं। दीपावली की पड़वा को गायों ग्रौर वछड़े-वछड़ियों की ग्रारती उतारी जाती है। इस पद्धति का नाम है 'ग्रौक्षण' ग्रर्थात ग्रायुष्य वर्द्धन। दीपज्योति के द्वारा ग्रायुवर्द्धन की कामना ग्रौर चिन्तना की जाती है। ये रीतियां महाराष्ट्र में प्रचलित हैं।

विष्णु तथा ग्रन्यान्य देवताग्रों के मन्दिरों में प्रातः मंगल-ग्रारती तथा रात को शयन-ग्रारती करने को प्रथा तो प्रायः सारे ही देश में है। काशी, प्रयाग, हरिद्वार ग्रादि तीर्थों में जाने वाले यात्री संध्या समय घाटों पर जाते हैं। वहां पत्तों के दोनों में फूल भर कर तथा उन पर घी का दीप रखकर धीरे से गंगा में प्रवाहित करते हैं। यह दृश्य वहुत ही सुहावना प्रतीत होता है। सैकड़ों दीपक पंक्ति-वद्ध होकर वहते हैं, कभी एक दूसरे से टकराते हैं, कभी दूर हट कर जल तरंगों पर ग्रठखेलियां करते हैं,

कभी धीमे तो कभी शीघ्र गति से अपनी जल-यात्रा पर जाते हैं। इस शोभा को देखकर अपने हृदय की 'आत्मज्योति' भी झिलमिल-झिलमिल करने लगती है। ऐसा लगता है, मानों आकाश की तारक सुन्दरियां गंगा स्नान करने को उतर आई हैं। इन सभी दीपज्योतियों का मन में प्रसन्नता तथा उल्लास भरने के लिए मधुर उपयोग होता है। कुछ भी मांगलिक कार्य हो दीप-ज्योति अपने परिपूर्ण अधिकार के साथ जलती रहती है। दीप-ज्योति मन्द पड़ी कि चारों ओर अवसाद की छाया पड़ जाती है।

दीपदान का माहात्म्य भी ऐसा ही है। कार्तिक अथवा माघ मास में प्रातः स्नान के पश्चात दीपदान किया जाता है। अधिक मास को पुरुषोत्तम मास भी कहते हैं। इस मास में भगवान पुरुषोत्तम की प्रसन्नता के लिए दीपदान का विशेष माहात्म्य है। भावुक भक्त लोग परलोक की सुख समृद्धि के निमित्त इस लोक में विविध प्रकार के दान पुण्य करते हैं, उनसे दीपदान का विशेष महत्त्व है। अपना प्राण-पंछी जब इस काया के पींजरे को छोड़ कर उड़ जाता है। तब इस जीवात्मा की अव्यक्त तपोमय प्रदेश की यात्रा के समय वह दान किया हुआ दीप अचानक सामने प्रकट होकर मार्ग प्रदर्शित करता है। दीपदान की यही अपेक्षा है।

दीपज्योति ने नृत्यकला के क्षेत्र में भी प्रवेश किया है। हाथों में, मुख पर तथा सिर पर दीपथाल लेकर जो नृत्य किया जाता है, उसे 'दीपनृत्य' की संज्ञा दी गई है। ब्रज मंडल के लोक नृत्यों में 'चरकलानृत्य' नाम का एक मनोहर नृत्य है। यह भी दीप-नृत्य का ही एक प्रकार है तथा होली के बाद दूज से लेकर पञ्चमी तक तीन दिन चलता है। चरकला का अर्थ है लकड़ी का पिंजरा। उस पिंजरे में दीप जलाकर उसे लोहे के घड़े के मुंह

पर रखा जाता है। लोहे का यह घड़ा लगभग बीस सेर वजन का होता है। वह घड़ा एक विशेष स्त्री के सिर पर रख दिया जाता है। सिर पर घड़ा रखकर नाचने वाली इस ग्राम नार्तिका का निर्वाचन लगभग एक साल पहले ही हो जाता है। इतने भारी वोझ को काफी समय तक सिर पर उठा सके, इसके लिए साल भर तक उसे घी दूध से पुष्ट किया जाता है। उसके शरीर तथा मन-प्राण को स्वस्थ वनाया जाता है।

जिस रात को नृत्य होता है, उस रात को एक लंबे-चौड़े मैदान में सैकड़ों हजारों नर-नारी एकत्र होते हैं। साथ ही ढोल वजने लगता है। नृत्य के लिए नियुक्त ललना सज-धज कर नृत्य-स्थल में प्रवेश करती है। दीपज्योति को प्रकाशित करने वाला भारी 'चरकला' सिर पर उठाती है। इसके अलावा दो दीपक उसके दोनों हाथों में होते हैं। तब वह लोकप्रिय नृत्य प्रारंभ होता है। नृत्य कितने ही घंटे चालू रहता है। नृत्य करते समय सिर पर धरे घड़े के भार को संभालने में हाथ नहीं लगाया जाता, क्योंकि उसके दोनों हाथों में दीपक होते हैं। पर सालभर तक लगातार अभ्यास करने के कारण उसे यह कौशल प्राप्त हो जाता है। सिर पर धरी वह दीपज्योति न तो बुझती है और न नीचे गिरती है। वसन्त ऋतु के उल्लासमय स्वागत के लिए इस नृत्य का आयोजन किया जाता है।

दीपज्योति अर्थात ज्योतिर्मयी लक्ष्मी। जिस किसी वस्तु में तेज और सौन्दर्य प्रकट होता दीखता है, इस वस्तु की कल्पना दीपक के रूपक द्वारा ही करते हैं। भारतीय संस्कृति ने कुल को गौरवान्वित करने वाले सुपुत्र को 'कुलदीपक' की संज्ञा दी है। इतना ही नहीं, किसी कवि ने ईश्वर का ध्यान भी दीपक के रूप में किया है। "जय जग मन्दिर दीपक सुन्दर श्री व्रज दूलह देव सहाई" ।—इस पद में व्रज मोहन को विश्वमन्दिर का दीपक

कहा है। सूर्य का एक नाम दीपक भी है : प्रभाते दीपको रविः।

काव्य के क्षेत्र में भी लावण्यमयी सुन्दरी को, यौवन के उपवन में नवागतातरुणी को, दीपज्योति कह कर गौरवान्वित किया गया है। रघुवंश के छठे सर्ग में देखिये। उसमें वैदर्भी इन्दुमती की प्राप्ति की आशा में देश देशान्तर के राजकुमार स्वयंवर के मंडप में बैठे हुए हैं। इन्दुमती अपने हाथों में वर-माला लिए उन राजपुत्रों की पंक्ति में प्रत्येक का परिचय प्राप्त करके आगे चली जा रही है। उस प्रसंग का वर्णन कालिदास ने किया है :

"संचारिणी दीप शिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिं वरा सा।
नरेन्द्र मार्गा ट्ट इव प्रपद्ये विवर्ण भावं स स भूमि पालः॥"

घोर अन्धकार में राजमार्ग से दीपज्योति जा रही है, जिस घर के सामने गई वह प्रकाशित हो गया या और आगे वढ़ी कि उसके घर पर अंधेरा छा गया। वैसी ही 'दीप शिखा' इन्दुमती जिस जिस राजकुमार के समीप पहुंची कि आशा से उसका मुख उज्ज्वल हो गया और जब वह आगे वढ़ी तो उस उस राजकुमार का मुख अन्धकार से ढक गया।

यह तो हुई संस्कृत काव्य की बात। परन्तु यदि हम विभिन्न भाषाओं के जनपदों में जाकर वहां के लोक-साहित्य को देखें तो दीपक संबंधी अनेक काव्य पंक्तियां कानों में पड़ेंगी। हिन्दी के लोक-साहित्य में पहेलियों का विशेष स्थान है। देवेन्द्र सत्यार्थी की एक पहेली है :—

"एक राजा की अनोखी रानी, नीचे से वह पीवे पानी।" एक राजा की नीचे से पानी पीने वाली सुन्दरी रानी दीपक की वत्ती के सिवाय कौन हो सकती है? एक और अद्‌भुत पहेली में देखिए :—

"एक नार ने अचरज किया, साँप मार पिंजरे में दिया। ज्यों-ज्यों सांप ताल को खाय, सूखे ताल सांप मर जाय।"

एक स्त्री ने कमाल कर दिया। कमाल क्या? यही कि सांप को मारकर पींजरे में डाल दिया। धीरे-धीरे वह सांप ताल को खाने लगा। फिर क्या हुआ? ताल सूख गया और उस सूखे हुए ताल में सांप मर कर गिर गया। इसमें नारी है ज्योति, सांप है वत्ती और ताल है तेल से भरा मिट्टी का दीपक। इस अर्थ को समझने में देर लगती है, लेकिन वजन भी कम नहीं पड़ता।

इससे पता चलता है कि नागरिक संस्कृति से लेकर जनपदी संस्कृति तक दीप ज्योति ने कितना साम्राज्य स्थापित कर रखा है। दीप-ज्योति भारतीय संस्कृति की अत्यन्त लाड़ली बेटी है।

दीपज्योति का जैसा वाह्य जगत में स्थान है अन्तर-जगत में भी उसने स्वतः अपना गौरवपूर्ण स्थान वना लिया है। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' अर्थात मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो। उपनिषदों के गुणियों की यह प्रार्थना मोक्ष-साधकों के मुख से ही नहीं निकली, वल्कि उनके रोम-रोम से वाहर निकलती है। यह एक सार्वभौम प्रार्थना बन गई है। एक दूसरे ऋषि ने 'बुद्धिर्दीप कला' कहकर बुद्धि को ही दीपकलिका माना है। भगवान बुद्ध ने एक वार अपने भिक्षुओं को उपदेश देते हुए कहा था : 'अत्त दीपा भवथः।' अर्थात् तुम आत्म दीप होओ, आत्म प्रकाश द्वारा उज्ज्वल बनो।

पारमार्थिक जगत में इस दीपज्योति का अर्थ है आत्मा की चित् कला। वह सदैव प्रकाशित रहती है, परन्तु कभी-कभी मन्द पड़ जाती है, फुरफुराती या फटफटाती है या फिर इधर-उधर डोलने लगती है। हवा के झोंकों से नाचती है। यह दीप ज्योति की निर्बलता है, अपूर्णता है। अतृप्ति और विकारजनित चंचलता है, जो नहीं होनी चाहिए। इसलिए इस आत्मज्योति को सुख-दुःख, शीत-उष्ण, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वों के झंझावात से

दूर रखना चाहिए। यह ज्योति निर्वात प्रान्त में स्थापित होनी चाहिए। तभी वह स्थिर रहेगी। फिर न तो हिलेगी और न डुलेगी। इस ज्योति से स्थिर तथा अविच्छिन्न और उल्लासमय प्रकाश प्राप्त हो सकेगा। विकारों का काजल नहीं जमेगा। तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता। यही है सच्चिदानन्द आत्मा की स्थिति प्रज्ञा-वस्था। यही ब्राह्मी स्थिति है। इसी वात का वखान करते हुए भगवान कृष्ण ने अर्जुन से कहा था :—

यथा दीपो निवातस्थो नेगते सोप मास्मृता ?

८ / धर्म-चक्र

'देवानां प्रियदर्शी' अशोक भारत भूमि पर एक प्रतिष्ठा-सम्पन्न सम्राट हुआ है। उसकी विशेषता इसमें नहीं थी कि वह एक महान् सम्राट था, वल्कि उसकी विशेषता यह थी कि वह उदारचेता, परम कारुणिक और उन्नत-मना था। वौद्ध संघ तथा वौद्ध धर्म से उसका देह-प्राण का सम्वन्ध था।

बौद्ध धर्म ग्रहण करने के बाद उसने भारत के वाहर भी वौद्ध धर्म को विश्वव्यापी बनाने का वीड़ा उठाया था। अशोक की मान्यता थी कि मनुष्य के हृदय में नैतिक भावना की प्रतिष्ठा करना ही बौद्ध धर्म का ध्येय है, और इस महान् ध्येय की प्राप्ति के लिए उसने अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया था। सन्तवृत्ति तथा शाही ठाट-बाट, इन दोनों प्रवृत्तियों का दूध और शक्कर की भांति सम्मिश्रण हमें भारतीय इतिहास में कहीं उपलब्ध होता है तो वह सम्राट् अशोक के जीवन में ही होता है।

अशोक का जन्म तथा देहान्त हुए यद्यपि दो हजार साल बीत गए हैं। लेकिन उसने अपनी पुण्य स्मृति भारत के विभिन्न

प्रदेशों में, पर्वतीय गुफाओं तथा पाषाण शिलाओं में चिरस्थायी कर दी है। उनमें भी अशोक के महत्त्वपूर्ण स्मारक उसके बनवाए गए शिलास्तम्भ हैं। उन्हीं शिलास्तम्भों में से एक शिला-स्तम्भ के शीर्ष भाग की आकृति को भारत ने अपने सार्वभौम, स्वतन्त्र संघराज्य का प्रतीक मानकर स्वीकृत किया है। प्रकृति के चक्र में कौन सी वस्तु कब और किस प्रकार कहां से कहां पहुंचती है, यह कोई नहीं कह सकता। यह चक्राङ्कित सिंह-स्तम्भ भग्नावस्था में सारनाथ में सैकड़ों वर्षों से धूल और मिट्टी में लोट रहा था। कालान्तर में चप्पा भर जमीन उसे संग्रहालय में मिल गई। जो पहले खुला पड़ा था, वह छत के नीचे आ गया। लेकिन इस पर भी इसका भाग्य नहीं पलटा। फिर भारत स्वतन्त्र हुआ, उसने अपना संविधान बनाया। उस समय यह चर्चा चली कि भारत की सार्वभौमिकता का प्रतीक क्या हो। विचार मन्थन के परिणाम-स्वरूप इसका भाग्य एकदम चमक उठा। तब अशोक का चक्रसिंह-स्तम्भ सर्व सम्मति से भारतीय संघराज्य का प्रतीक बना और सारे विश्व ने उसे मान्यता प्रदान की। उसके नीचे जो नया परिवर्तन हुआ, वह मात्र इतना ही है कि 'सत्यमेवजयते,' यह वेद-वाक्य अङ्कित कर दिया गया।

इस अशोक स्तम्भ के मस्तक पर चार सिंह चारों दिशाओं की ओर, परस्पर सटे हुए हैं। उसके नीचे हरट की चक्की के समान गोलाकार चक्र खुदे हुए हैं। ये चारों चक्र मानो सिंहों के आधार रूप हैं। चारों चक्रों के मध्य में सिंह, हाथी, बैल, और घोड़ा ये चार पशु अङ्कित हैं। जिस प्रकार चक्र गतिशील है, उसी प्रकार यह पशु भी गतिमान हैं। प्रत्येक चक्र में चौबीस आरे हैं। ये दिव्य ज्ञान की चौबीस श्रेणियों के निदर्शक हैं। बौद्ध मतानुसार यह ज्ञान-चक्र है। किन्तु अशोक ने इसे 'धर्म-चक्र' कहा है।

कारण यह है कि अशोक ने सभी विजयों में धर्म-विजय को सर्वश्रेष्ठ माना है, तथा लोक-सेवा और लोक-कल्याण, इन दोनों में सब धर्मों का रहस्य पाया है।

धर्म-चक्र

निरंजना नदी के तट पर बोधि वृक्ष की छाया में, संबोधि प्राप्त होने पर भगवान बुद्ध चार सप्ताह तक वहीं बैठे रहे। तब ब्रह्मा और इन्द्र वहां प्रगट हुए और उन्होंने बुद्ध से प्रार्थना की—भगवान् ! मानव मात्र को दुःखों से छुटकारा देने वाले जिस ज्ञान की उपलब्धि आपको हुई है, उसका सारे विश्व में प्रचार कीजिए।"

तदनुसार भगवान् बुद्ध धर्म-प्रचारार्थ वहां से चल पड़े और सारनाथ के 'मृगदेव' नामक वन में अपने शिष्यों के सामने उन्होंने पहला धर्म-प्रवचन किया। इस घटना को बौद्ध साहित्य में 'धर्म-चक्र प्रवर्त्तन' का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नाम दिया गया है। इस धर्म-चक्र को अखंड गतिमान रखने के लिए देवानां प्रियदर्शी अशोक ने भगीरथ प्रयत्न किया तथा अनेक शिला-स्तम्भों पर चक्र चिन्हित करवा कर भावी पीढ़ियों को उनके कर्त्तव्य का बोध कराया।

यही सारनाथ का 'धर्म-चक्र' है। सांची का बद्ध-स्तूप भी ऐसा ही चक्र है परन्तु उसकी बनावट अलग है। वहां सिंहों के पांवों के नीचे नहीं, बल्कि उनके शिरो भाग में पाषाण खंडों पर लंबान में स्थित है। उसके चारों ओर के बिन्दु, आरे तथा घेरा,

सभी अंग सुगठित हैं। उसका आकार और उसकी भव्यता, ये दोनों उस विशाल स्तम्भ को सुशोभित कर रहे हैं। चक्र की स्थिति का एक अन्य प्रकार भी मिलता है। किन्तु उसके लिए होयसल शिल्प-शैली का अवलोकन करना पड़ेगा। बारहवीं सदी में होयसल के यादवों ने भारतीय शिल्पकला में जो नया भव्य आविष्कार कर दिखाया, वह आज भी त्रिकूटाचल के मन्दिरों के रूप में देखा जा सकता है। वेल्लूर में भी मन्दिरों के रूप में देखा जा सकता है। वेल्लूर में एक मन्दिर के सिंहद्वार पर महा-काय सिंह खुदा हुआ है और चक्र उसकी पीठ पर आरूढ़ है। इस प्रकार सिंह के पंजों के नीचे, मस्तक पर तथा पीठ पर भारतीय शिल्पकार चक्र की तीन स्थितियां दिखलाते हैं। सिंह तथा धर्म-चक्र का संबन्ध भारतीय शिल्पकारों ने सदैव से अटूट रखा है।

ज्ञान और वल सम्पन्न कोई भी मनुष्य चक्र को गतिमान कर सकता है। परंतु चक्र के गतिमान होने पर उसे अवरुद्ध करने अथवा मार्ग से मोड़ने की शक्ति देवताओं तक में नहीं। भगवान बुद्ध ने धर्म-चक्र प्रवर्तित किया और वह चल पड़ा, परंतु मार्गस्थ होने पर स्वयं बुद्ध भी उसे रोकने में समर्थ नहीं, ऐसी बौद्धों की मान्यता है। वह अपनी गति से दौड़े, थम जाय अथवा मुड़े, यह स्वयं उसकी इच्छा पर अवलम्बित है। श्रीमद्भागवत में दुर्वासा की कथा भी यही आशय व्यक्त करती है :

एक वार महर्षि दुर्वासा महा-भागवत अम्बरीष को छलने की नीयत से अतिथि के रूप में उसके यहां पहुंचे। उचित तो यह था कि उन्हें अंबरीष की बगल में बैठकर द्वादशी व्रत की पारणा करानी चाहिए थी। गृहस्थ का यह धर्म है तो क्या अतिथि का भी ऐसा ही धर्म नहीं ? परन्तु दुर्वासा ने अंबरीष के व्रत नियम की परवा नहीं की और नित्यकर्म के लिए नदी के तट पर जा बैठे। बेचारा अंबरीष दुविधा में पड़ गया कि पारणा नहीं करें तो नियम भंग,

ग्रौर कर ले तो दुर्वासा का श्राप। ग्रन्त में उसने एक उपाय निकाला कि 'विष्णु पादोदकं तीर्थम्' ग्रर्थात विष्णु का चरणामृत लेकर उपवास तोड़ दिया जाय। तदनुसार उसने चरणामृत लेकर उपवास तोड़ दिया। परन्तु क्रोधी दुर्वासा को ग्रंवरीष का उपवास तोड़ना सहन नहीं हुग्रा। उन्होंने ग्रंवरीष को श्राप दिया:— "तुझे दस बार जन्म ग्रहण करना पड़ेगा"। भगवान विष्णु को ग्रपने ग्रनन्य-भक्त के प्रति दुर्वासा का यह ग्रकारण क्रोध सहन नहीं हुग्रा। उन्होंने सुदर्शन चक्र छोड़ दिया ग्रौर वह दुर्वासा के पीछे लग गया। दुर्वासा भाग खड़े हुए। वह तीनों लोकों में गए, परन्तु चक्रने उनका पीछा नहीं छोड़ा। ग्राखिर हार कर दुर्वासा भगवान् विष्णु के पास वैकुण्ठ पहुंचे, ग्रौर साष्टांग प्रणाम करके बोले:—

"भगवान्। मैं हैरान हो गया, मुझ से भूल हुई। ग्रपने सुदर्शन चक्र को वापस लें।" विष्णु ने कहा, "यह मेरे वश की बात नहीं। मैं इसमें ग्रसमर्थ हूं।" ग्रन्त में दुर्वासा ग्रंबरीष की शरण में गए। अंबरीष की प्रार्थना पर दुर्वासा का सुदर्शन-चक्र से पीछा छूटा।

यह कथा भक्त की महिमा को तो बढ़ाती ही है, किन्तु इसकी ग्रपेक्षा इससे चक्र की ग्रपनी सामर्थ्य का ग्रधिक बोध होता है। सुदर्शन-चक्र भगवान् विष्णु के हाथ में एक ग्रायुध है। ग्रौर विष्णु कौन ? त्रिभुवन-व्यापी सूर्य ही तो !

त्रीणि पदा विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्

यह श्रुति विष्णु का सौर रूप व्यक्त करती है।

चक्र का ग्रर्थ गोलाकार सपाट वस्तु माना जाता है। प्राचीन काल में सूर्य को आकाश में एक गोल चकली मानते थे। सूर्य के रथ में सात घोड़े हैं परन्तु चक्र एक ही है। सूर्य मण्डल ही वह चक्र है ग्रौर उस पर ग्रारूढ़ त्रिभुवन-व्यापी देवता दूसरा है, परन्तु वह ग्रदृश्य है —

एकचक्रो रथो यस्य दिव्यः कनकभूषितः।
स मे भवतु सुप्रीतः पद्‌महस्तो दिवाकरः ॥

सूर्य जिस प्रकार गोल है, उसी प्रकार तेज-पुंज भी है। उसमें से अग्निशिखाएं निकलती हैं। यदि सूर्य अपने बारहों नेत्र खोल दे तो संसार के भस्म होने में तनिक भी सन्देह नहीं। यों तो सूर्य नारायण सदा विश्व का पोषक है, परन्तु प्रलय-काल में वह रुद्र और संहारक बन जाता है। इसीलिए प्रलय-तांडव करने वाले रुद्र के मुख के चारों ओर अग्नि शिखाओं का चक्र दिखलाया जाता है। विष्णु के मुख के चारों ओर प्रकाश-वलय (प्रभा-मंडल) होता है। इसलिए चक्र सूर्य के प्रतीक के रूप में ही प्रसिद्ध है।

वैदिक आर्य चक्र को सूर्य का प्रतिनिधि मान कर यज्ञ के प्रारम्भ में उसका उपयोग करते थे। ब्राह्मण ग्रन्थों में सौर-चक्र तथा वाहन-चक्र का सम्बन्ध दर्शाने वाली एक विधि है। उस प्रसंग में रथ का चक्र चलाते समय जो मंत्र पढ़ते थे वह सूर्य का ही होता था। ऋग्वेद में स्वर्णिल चक्र को आज्ञा देने वाले देवता की प्रार्थना है। इसका भाव यह है कि विश्व का अस्तित्व इसी चक्र पर निर्भर है और इसे कोई भी नहीं रोक सकता। यह 'दिव्य' चक्र की महिमा है।

जिसे कालचक्र कहते हैं वह यही है। दीर्घतमा ऋषि ने सबसे पहले इस कालचक्र का साक्षात् अनुभव किया और किसी अद्‌भुत संभ्रम के लिए उस चक्र का वाचिक आविष्कार किया—

"द्वादशारं न हि तज्जराय
वर्वर्ति-चक्र परिद्या मृत्सय"

अर्थात् बारह आरों वाला चक्र कभी नहीं घिसता। यह आकाश मंडल में निरन्तर भ्रमण करता रहता है।

पृथ्वी चक्राकार घूमती है। सूर्य नारायण अपने नव-ग्रहों के

साथ आकाश गंगा के चक्र में रहता है। आकाश गंगा भी एक चक्र है, और वह भी एक नहीं, अनेक में से एक है। सूर्य चक्राकार फिरता है और काल-चक्र का निर्माण करता है। कल्प के वाद कल्प आते हैं, मन्वन्तर के वाद मन्वन्तर चलते रहते हैं। प्रभव से शुरू होकर संवत्सर चक्र क्षय नामक संवत्सर तक पहुंच कर फिर प्रभव से मिलता है और नया चक्र आरंभ करता है। फाल्गुन-चैत्र की भेंट होती है और मास-चक्र चालू रहता है। शिशिर वसन्त से मिलकर ऋतुचक्र को निर्वाध जारी रखता है। दिन रात को स्पर्श करता है और रात्रि घूमती-घूमती दिन को स्पर्श करती है। बड़े चक्रों में छोटे चक्र घूमते रहते हैं।

महाभारत के आदि पर्व में इसी काल-चक्र का उल्लेख रोचक ढंग से किया गया है। उत्तुंक गुरु-पत्नी के लिये जो कुंडल लाया था, उसे तक्षक उड़ा ले गया। उत्तुंक उसका पीछा करते हुए पाताल पहुंच गया। वहां उसने अनेक आश्चर्य देखे। उनमें एक घूमता हुआ चक्र भी था। इसमें तीन-सौ-साठ आरे थे और वह चौवीस पुट्ठों से बँधा हुआ था। छह कुमार उन चक्रों को घुमा रहे थे। वहां से वापस आने पर उत्तुंक के गुरु ने उस चक्र का रहस्य वताया :—

वह चक्र वर्ष-चक्र कहलाता है। उसके तीन-सौ-साठ आरे वर्ष के तीन-सौ-साठ दिन हैं। उसके चौवीस पुट्ठों का अर्थ है वर्ष में होने वाले चौवीस शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष। उस चक्र को सदैव घुमाने वाले छः राजकुमार हैं वसन्त आदि छःह ऋतुएं।

आगे चलकर इस चक्र का स्वरूप धार्मिक न रहकर राजकीय हो गया। अनेक राजाओं को जीतने के बाद जो सार्वभौम राजेश्वर वनता था उसे चक्रवर्ती कहा जाने लगा। सामन्त-चक्र में रहने वाला राजा चक्रवर्ती। इस दृष्टि से यह नाम अन्वर्थक तथा गौरवास्पद है। परन्तु राजनीतिज्ञों का इतने मात्र से ही

समाधान नहीं हुआ। उन्होंने चक्रवर्ती को विष्णु का अंश माना। ना विष्णुः पृथ्वीपतिः कहकर उसका चक्र के साथ संबन्ध जोड़ा। चक्रवर्ती के पास चक्र होना चाहिए, ऐसा निश्चय हुआ। लेकिन यह चक्र कैसा हो ? बढ़ई का बनाया हुआ नहीं; बल्कि सागर मन्थन से निकला हुआ चक्र। देवों और दानवों ने जब समुद्र मन्थन किया तो उसमें से सात रत्न निकले। पहला रत्न सर्व-शक्तिमान दिव्य-चक्र था। बौद्ध वांग्मय में लिखा है कि इस चक्र के साथ अन्य छः रत्न भी सार्वभौम नृपति के पास होने चाहिए और थे भी। भगवान बुद्ध की शिष्य परम्परा की धारणा है कि चरणतल में चक्र होने के कारण ही वह देवता बने तथा सर्वजन-पूज्य हुए।

चक्रवर्ती किस प्रकार का होता था, इस बारे में बौद्ध साहित्य में एक आख्यायिका है :

"राजा चक्रवर्ती पद की कामना करता है और इसके लिए अपनी चतुरंग वाहिनी की सार्थकता सिद्ध करता है। पूर्णमासी के दिन वह पवित्र होकर राजमहल की सबसे ऊंची छत पर जाता है। चन्द्रोदय का समय होता है। सोलह कलापूर्ण चन्द्र-बिम्ब अपने निखार पर आता है। राजा उसके सन्मुख खड़ा होता है। तभी उसके सामने एक चक्र दीखता है। 'प्रसाद चिह्नानि पुरः फलानि' ऐसा वह दर्शन होता है। राजा उस पर जल-प्रेक्षण करके उसे आदेश देता है—

"जीतते-जीतते आगे जा"

चक्र पूर्व की दिशा की ओर दौड़ने लगता है। राजा सेना सहित उसके पीछे-पीछे चल पड़ता है। इस विजय-यात्रा में मार्ग में आने वाले राजा लोग एक के बाद एक हार मानकर तथा कर-भार देकर शीश नवाते हैं। चलते चलते पूर्व दिशा समाप्त हो जाती है, आगे मिलता है अनन्त अपार सागर। वह चक्र

सागर में डूब जाता है और फिर ऊपर आकर दक्षिण दिशा की ओर बढ़ता है। फिर पश्चिम की ओर तथा उसके बाद उत्तर की ओर जाता है। राजा चतुर्दिक विजय प्राप्त करता है। उसकी महत्वाकांक्षा पूर्ण होती है और तब वह 'चक्रवर्ती' कहलाता है। फिर वह चक्र राजधानी में वापस आकर राज-प्रासाद के महाद्वार पर ठहर जाता है। चक्रवर्ती का मृत्युकाल समीप आने पर चक्र गिर पड़ता है। मृत्यु होने पर अदृश्य हो जाता है। फिर उस राज्य का उत्तराधिकारी यदि उसी प्रकार राज्य को प्रतिष्ठित करने का सामर्थ्य रखने वाला हो तो चक्र फिर महा-द्वार पर प्रगट होता है।

सूर्य काल-चक्र को गति देता है। विष्णु विश्वचक्र को चलाता है। भगवान बुद्ध धर्म-चक्र प्रवर्तन करते हैं। ये तीनों ही चक्र चालक हैं। उनका चक्र चलाने का भाव यह है कि बौद्धों की यह कल्पना बन गई है कि ये चक्र घूमकर बुद्ध का तथा देवों का कार्य करते हैं। बाद में जप के रूप में चक्र घूमने लगे। बौद्ध-विहारों के चालकों ने उसकी उचित व्यवस्था भी कर दी।

इन चक्रों को 'प्रार्थना-चक्र की संज्ञा दी गई है। तिब्बत के लामाओं के विहारों में ऐसे छोटे बड़े चक्र युगों से चले आ रहे हैं। बौद्ध भक्त कागज पर प्रार्थना-मंत्र लिखकर चक्र के ऊपर रखते हैं और चक्र को घुमाते हैं तथा जितनी देर चक्र घूमता रहता है, उतना जप हुआ समझकर सन्तोष प्राप्त करते हैं। इन चक्रों में कुछ तो आसानी से घुमाये जा सकते हैं। कुछ तो छोटे तथा हल्के हैं और कुछ बड़े व भारी हैं। इन्हें घुमाने के लिए सशक्त हाथों की जरूरत पड़ती है। किसी समय हिमालय में यह भव्य प्रार्थना-चक्र जल प्रपात के नीचे रहा करता था और पानी के जोर से पनचक्की की भांति सदैव घूमता रहता था, बुद्ध के धर्म-चक्र प्रवर्तन के समान निरन्तर चलता रहता था।

इस प्रार्थना-चक्र की कल्पना नयी होने पर भी बौद्धों ने इसकी शोध नहीं की है। यह बहुत पुरानी कल्पना है। प्राचीन काल में बाबिलोन में ऐसे चक्र का व्यवहार होता था, इस बात का प्रमाण मिलता है। मिस्र के मन्दिरों में ईसा से तीन शताब्दी पूर्व चक्र का अस्तित्व था। इतना ही नहीं, कुछ समय पहले तक यूरोप के गिर्जाघरों में चक्र को प्रार्थना का एक प्रकार मानकर उसका विनियोग होता था।

जैनों का सिद्ध-चक्र तो प्रसिद्ध ही है। तांत्रिकों का श्री-चक्र भी विख्यात है। महात्मा गांधी का चलाया हुआ चर्खे का चक्र बीसवीं सदी का नया धर्म-चक्र प्रवर्तन माना जा सकता है। कई राजनीतिक पार्टियों ने उसे अपना प्रतीक बना लिया है। चक्र शाश्वत गति और संरक्षण इन दोनों तत्वों का बोध होता है। चक्र का गोल आकार कभी समाप्त नहीं होने वाली परंपरा को सूचित करता है। चक्र का जो घेरा है, उससे संरक्षण की कल्पना का उद्‌भव हुआ। इस कल्पना से जादू, टोना और भूत विद्या में चक्र को बहुत महत्व मिला। जन्म, मृत्यु तथा अन्य अवसरों पर भस्म, चूने आदि से गोलाकार बनाने की प्रथा है। उस समय जो मंत्र पढ़ा जाता है, उसमें संरक्षण का हेतु स्पष्ट नजर आता है :

यथा चक्र धरो विष्णु स्त्रैलोक्यं परिरक्षति।
एवं मण्डलमस्माकं सर्वभूतानि रक्षतु॥

स्त्रियों के हाथों में जब पहले-पहल कंकण पहनाया गया था तो उसका हेतु था दृष्ट तथा भूतबाधा से उसकी सुकोमल देह की रक्षा। सौन्दर्य वृद्धि की कल्पना बाद की है। माता-पिता अपने छोटे बच्चों के हाथ पांव में कड़े पहना देते हैं, उसमें भी यही हेतु है। स्त्री हो या पुरुष, उंगली में अंगूठी पहनने का भी वही कारण है। जादू की अंगूठी की लोककथा तो सारे विश्व में

प्रसिद्ध है। मत्स्य पुराण में वर्णन है कि यदि भवसागर से पार उतरना हो तो सोने का चक्र बनाकर, उसपर विष्णु की मूर्ति स्थापित करके, ब्राह्मण को दान करें। चक्र के प्रतीक पर लोगों का विश्वास इसी कारण प्रारम्भ से ही है।

ऐसा है यह चक्र। इस प्रवर्तित चक्र का अनुवर्तन करो, यह भगवान कृष्ण का आदेश है: एवं प्रवर्तितं चक्रं वर्तयतीव। परन्तु मनुष्य ने भगवान के इस आदेश का उनकी इच्छा के अनुसार पालन नहीं किया। वैयक्तिक, जातीय और राष्ट्रीय स्वार्थ के लिए मनुष्य ने चक्र का दुरुपयोग किया है। कभी उल्टा चलाया तो कभी तिरछा। उसके परिणाम-स्वरूप संसार में रुदन और हाहाकार मच गया। आंसुओं के नाले और रक्त की नदियां बहीं। मनुष्य ही मनुष्य का काल बन गया। उसने अपने रक्त से सींचकर संस्कृति को ऊंचा उठाया, लेकिन फिर अपने ही अभिषेकी हाथों से उसे धूल में मिला दिया। हिंसा, द्वेष, तिरस्कार, अत्याचार आदि के द्वारा विश्वचक्र को घुमाया। भारत में भी ऐसा ही कुछ हुआ।

परन्तु आज का स्वतंत्र भारत सत्य और श्रेय की ओर विश्वचक्र को गतिमान करता हुआ प्रतीत होता है। 'विश्व में शान्ति स्थापित हो', इस व्यापक शुभ कामना को भारत ने अपने हृदय में बिठा लिया है। इसके लिए भारत ने इस धर्म-चक्र में पंचशील के पांच और अर्थ बिठा दिये हैं। यदि इन पांच आरों वाले चक्र को गतिशील करने में सहयोग तथा सामर्थ्य मिले, तो यह जगत का मंगल करने वाला होगा।

वेद कहता है: "पांच आरों वाले इस चक्र पर समस्त लोक अधिष्ठित हैं।"

६ / नटराज

कैलाश का स्थूल और संध्याकाल है। हिमालय के हिमाच्छादित शिखरों पर अंधकार धीरे-धीरे घना होता जा रहा है। शिव शंकर के नित्यानन्द का समय है। वह उसके लिये तैयार हो रहे हैं। सब गणों में प्रमुख नन्दी को इसकी सूचना मिल चुकी है। वह नृत्यभूमि पर प्रगट होकर विश्व को सावधान कर रहा है :

"लोकपालो ! अपना स्थान छोड़कर दूर चले जाओ। गगन मण्डल पर घिर रहे काले बादलो ! सिर पर पैर रखकर भाग जाओ ! पृथ्वी ! तू रसातल को चली जा। हे गगनचुंबी पर्वतो ! तुम पृथ्वीमाता के आंचल के नीचे शिशु बनकर दुबक जाओ। ब्रह्मा ! तुम अपने सत्य को अन्तरिक्ष से भी ऊपर बहुत दूर तक जाने दो। मेरे स्वामी शंकर नृत्य करने के लिए गजचर्म धारण कर रहे हैं तथा जटाजूट बांध रहे हैं। उनके लिए विश्व की रंगभूमि खाली कर दो।"

नन्दी ने इस प्रकार सबको सावधान करके एक ओर कर दिया और सांब सदाशिव ने रंगभूमि पर प्रवेश किया। जगज्जननी उमा उस नृत्य की एकमात्र प्रेक्षिका हैं। वह सामने रत्नजड़ित सिंहासन पर बैठ गईं। तभी शुभ्र वसना सरस्वती की वीणा झंकृत हो उठी। देवेन्द्र ने मुरली बजाई। ब्रह्मदेव ने मंजीरे उठाये। श्री विष्णु ने मृदंग गले में डाल लिया तथा लक्ष्मी ने गायन प्रारम्भ किया। समस्त वाद्य लययुक्त बज उठे। शिव ने उसी समय पदाघात किया। मृदङ्ग के बोल और ताल पर नृत्य आरम्भ हो गया। विशेष आवर्तनों के बाद लय बढ़ने लगी। ताल दुगुने से चौगुनी हो गई। नृत्य में वेग और आवेश का संचार होने लगा। नृत्य की बढ़ती हुई गति के साथ आकाश भी

घूमने लगा। हस्तप्रक्षेप से नक्षत्रों पर प्रहार होने लगा। पदाघातों से सातों स्वर्ग डगमगाने लगे। हुंकारों से सातों पाताल गूंजने लगे। देव और देवाङ्गनाएं, यक्ष और किन्नर तथा उनकी कला-कामिनियां सारी मंडली इस नृत्य को देखने के लिए आकाश में एकत्र होने लगे। यों तो शिव का स्वभाव रौद्र है, परन्तु सान्ध्यनृत्य के समय वह अपना स्वभाव भूल बैठे। उनका स्वभाव सौम्य तथा मनोरम हो गया। तभी उनके तन पर मुक्त हस्त से मली हुई चिताभस्म अंगराग वन गई। उनके भाल पर जो तृतीय नेत्र है। उसकी ज्वाला कस्तूरी का तिलक वन गई। कण्ठ में लिपटे सर्प रत्नहार वन गए।

नटराज

पार्वती इस नृत्य को देखकर सुधवुध खो वैठीं। कलारस का आस्वादन करके पार्वती तृप्त हो गई। शिव ने ताण्डव नृत्य प्रारम्भ किया तो पार्वती बोली : "प्रभो ! अव वस करो, नहीं तो विश्व में प्रलय मच जायगी।" परन्तु यह नृत्य प्रसन्नता का उपवन है, इसीलिए जव तक पार्वती की भली भांति तृप्ति नहीं हुई, तव तक उन्होंने 'वस करो' नहीं कहा। वाद में स्वयं अपनी ही इच्छा से शिव ने नृत्य वन्द किया। प्रकृति नटी ने भगवान शिव की नृत्य मुद्रा को देखकर आरती उतारी।

शिव ताण्डव के विभिन्न रूप हैं। आनन्द, संहार, त्रिपुर, सन्ध्या, गौरी आदि इनके नाम हैं। नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत

ने इनकी संख्या १०८ वतलाई है। चिदम्बरम् के गोपुरा पर वे सब रूप अंकित मिलते हैं। एक सांध्य नृत्य को छोड़ दिया जाय तो शेष सभी नृत्य रोमांचकारी और हृदय पर चोट करने वाले हैं। रावण ने अपने शिव ताण्डव स्तोत्र में ऐसी ही ओजस्वी भाषा में इनका वर्णन किया है।

इस नृत्य में दोनों सामर्थ्य हैं : सर्जक तथा संहारक, और संजीवक तथा दाहक। ऋषियों ने दोनों प्रकार की सामर्थ्य देख कर शिव को 'नटराज' की उपाधि प्रदान की। शिव ने इस उपाधि को अपना भूषण माना और वह नृत्यनाट्य के मूल स्तंभ माने जाने लगे। इन दो ललित कलाओं के प्रतीक वन गए। नृत्य नाट्य में पारंगत होने की कामना करने वालों को नटराज की आराधना आवश्यक है, उनका कृपापात्र वनना ही होता है। कलाकारों के अन्त:करण में ऐसी श्रद्धा घर कर गई है।

शिव के सात्विक तथा मंगलमय नृत्य के प्रकारों में साध्य नृत्य की भांति एक और नृत्य की गणना की जाती है। उसका नाम है 'नादन्त नृत्य'। भगवान कैलाशपति ने मर्त्यलोक में सबसे पहले यह नृत्य तिलई की रंगभूमि पर किया था। यह दक्षिणात्वों का वह परमप्रिय प्रतीक है। चोलराजा के राज्य काल में अर्थात नवमी-दशमी शताब्दी में इस ओर के कलाकार नटराज की प्रतिमाएं घड़ने लगे। इन सारी मूर्तियों में मद्रास संग्रहालय की कांसे की भव्य मूर्ति को उत्कृष्ट माना जाता है। नटराज की कल्पना इस मूर्ति में समग्र रूप में परिणत हुई प्रतीत होती है। यह और तिरुअनंतपुरम में ऐसी ही अन्य मूर्तियां पन्द्रहवीं शताब्दी की मानी जाती हैं।

नटराज की इस प्रतिमा का सांगोपांग, सपरिवार तथा रूप में शक्ति-सहित वर्णन किये विना उसकी प्रतीकात्मकता का पूरा परिचय ध्यान में नहीं आ सकता।

पृष्ठ ८५ पर मुद्रित नटराज को देखो ! वह खड़ा है; परन्तु एक ही पांव पर। इस अवस्था को 'अतिभंग' की संज्ञा दी गई है। इसमें पूरे शरीर का भार एक पांव पर रखना पड़ता है और उसी में गति का प्रदर्शन भी करना पड़ता है। उठाया हुआ बायां पांव, दोनों दाहिने हाथ तथा आगे का बायां पांव, इन सब अवयवों का झुकाव दाहिनी ओर होने के कारण, भार सँभालना वहुत कठिन हो जाता है। उसके मस्तक पर जटाजूट बंधा है जिसमें अनेक प्रकार के रत्न जड़े हैं। उसी में गंगा का मुखमण्डल और दूज का चाँद सुशोभित है। जटाओं के नीचे कुछ बाल ऊपर उड़ते से दीख पड़ते हैं। उसके कुछ नीचे अंगोछा है जो दोनों ओर फड़-फड़ा रहा है। एक कान में पुरुष कुण्डल तथा दूसरे कान में स्त्री कुण्डल झलकते हैं। गले में सर्प लिपटा हुआ है, और उसी के साथ अशोक-पत्रों की माला भी है। मूर्ति चतुर्भुजाकार है। पिछले बांए हाथ में अग्निशिखा प्रज्वलित है। आगे का बायां हाथ दाहिनी ओर हाथी की सूंड की तरह पांव की ओर लटक रहा है। पिछले दाहिने हाथ में डमरू डिमडिम कर रहा है। अगला दाहिना हाथ अभय मुद्रा में है। दाहिना पांव 'मुयलक' राक्षस की पीठ पर गड़ा हुआ प्रतीत हो रहा है। यह वही बौणा है जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है। इसे 'अपस्मार' भी कहते हैं। मुयलक के पास एक सर्प है। मुयलक औंधा पड़ा है। वह भी कमल की पीठ पर। उसका नाम है कमल पीठिका। मिलई आज चिदम्बरम् के नाम से विख्यात है। शिव इस क्षेत्र में नट-राज के रूप में रह रहे हैं। वहां के मन्दिर के प्राकार में एक विशाल मण्डप है और उसका नाम है 'कनक सभा'। नटराज ने जिस स्थल पर नृत्य किया था, उसी स्थान पर 'कनक सभा' का भवन स्थापित किया गया है। वाममार्गियों के पाखण्ड का विनाश करके लोगों को सन्मार्ग पर लाने के लिए नटराज इस

स्थान पर प्रगट हुए थे। जो घटना हुई थी वह यों थी :

तिलई दक्षिणापथ में एक महत्त्वपूर्ण ठिकाना है। वाम-मार्गियों ने यहाँ अपना अड्डा जमाया और उसे अपने पंथ का केन्द्र बनाया। ये वाममार्गी शक्ति के उपासक थे। उनकी उपासना में कई प्रकार की अनैतिक परम्पराओं का समावेश था। सीधे-सादे लोगों को डरा-धमका कर तथा भोली-भाली स्त्रियों को फुसला कर अपने मत में सम्मिलित करना उनका काम था।

शंकर ने ज्ञान चक्षुओं से उनकी इन चालों को देखा तो उन्हें समाप्त करने का निश्चय किया। शिव उसी स्थान पर साक्षात प्रगट हो गए। उनको देखकर पाखण्डी भयभीत नहीं हुए, वल्कि युद्ध करने को तत्पर हो गए। उन्होंने अग्नि प्रज्वलित करके विशिष्ट मंत्रों द्वारा हवन किया। अग्निकुण्ड से फनवाला नाग, वाघ (व्याघ्र) तथा काला कलूटा वौना, ये तीन प्रकट हुए। इन तीनों ने मिलकर शिव पर आक्रमण किया। शिव केवल मुस्करा दिए। उनकी एक दृष्टि पड़ते ही नाग अशक्त होकर चरणों पर लोटने लगा। शिव ने उसे उठाकर अपने गले में डाल लिया। शिव 'नागभूषण' वन गए। बाघ को अपनी तर्ज्जनी अंगुली से चीरकर उसकी खाल को अपना परिधान वना लिया और वह 'वाघम्वर' हो गए। वाकी वचा वह वौना तो उसे नीचे पटक कर उसकी पीठ पर नाच-कूद कर उसकी हड्डी-पसली चूर चूर कर डाली। यह सारा दृश्य देखकर पाखण्डियों के होश उड़ गए। वे थर थर कांपने लगे और शिव के चरणों में गिर पड़े तथा वाद में उनके उपदेश से शिवभक्त वन गए।

दक्षिण भारत में नटराज की प्रतिमाओं का वाहुल्य है। उसी पीठिका से 'तिरुवशी' अर्थात लंब-गोलाकार प्रभामंडल निकला है। इस प्रभामंडल ने नटराज की मूर्ति को अपने समग्र

वर्तुल में घेर रखा है। उस घेरे के बीच बीच में ज्वाला के स्फुलिंग फूट रहे हैं। उठाया हुआ पांव तथा अग्नि वाला हाथ, दोनों उस घेरे को स्पर्श कर रहे हैं।

इस मूर्ति का प्रत्येक अवयव सचेतन है। प्रत्येक रेखा बोलती है। उसके आयुधों से तथा अवस्था से विभिन्न आशय सूचित होते हैं। इन बड़े प्रतीकों में कई छोटे-छोटे प्रतीक समाविष्ट हैं। ये सब मिलकर नटराज का पूर्ण प्रतीक बनाते हैं। डमरू स्वयं नाद का जनक है। हमारी स्वर-वर्णमाला इसी डमरू से ही प्रकट हुई। उसी के नाद के आघात से विश्व में चराचर के बीज अंकुरित हुए। चारों वाणियों (परा, पश्यंती, मध्यमा, वैखरी) तथा चौरासी लाख योनियों के निर्माता शिव ही हैं। कलाकारों ने उनके हाथ में डमरू देकर यही सूचित किया है।

इसी प्रकार बायें हाथ में प्रज्वलित अग्नि है। अग्नि का दूसरा नाम है 'पावक'। वह मलीनता दूर करके वस्तु को शुद्ध करता है। सांसारिक पदार्थों में परिवर्तन करना तथा नित्य नूतन सौन्दर्य का आविष्कार करना अग्नि के काम हैं। वह नटराज के नृत्य की गति से प्रज्वलित हुई है। वैदिक काल का अग्नि ही रुद्र है। कलाकारों ने उसके हाथ में अग्नि देकर इस धारणा को चिरस्थायी कर दिया है। अग्नि ने शिव के कर्पूर-गौर शरीर पर अरुण कान्ति डाल दी है।

नटराज का तीसरा हाथ अभय मुद्रा प्रदर्शित करता है। छाती के पास अगला हाथ ऊंचा करके हथेली दिखाने से अभय-मुद्रा बनती है। वैदिक काल में शिव के रुद्र रूप अर्थात क्रोध का बहुत भय था। इसीलिए वैदिक ऋषि कुत्स ने उसकी विनती की है :

'हे रुद्र! तू हमारे बालकों को मारना मत। तू हमारे

वीरों, पशुओं, अश्वों आदि किसी को मत मारना। हम तुझे हवि समर्पित करते हैं।"

इस मुद्रा द्वारा रुद्र ने नटराज के रूप में भक्तजनों को मानों अभय और सुरक्षा का आश्वासन सदैव के लिए दे दिया है। ऊपर उठा हुआ बायां पांव मानों कह रहा है : यदि मुक्ति की कामना है तो मायामोह से दूर हो जा ऊंचा उठ। अपस्मार का अर्थ है अविद्या और अज्ञान का काला पुतला। या फिर अपस्मार अर्थात भौतिक वासना। इस वासना का दमन किये बिना मोक्ष दुर्लभ है। 'वासना प्रक्षयोमोक्षः।'

नटराज के चारों ओर का प्रभामंडल गोलाकार है। यह घेरा प्रकृति का प्रतीक है उसके बीच-बीच में अग्निस्फुलिंग निकल रहे हैं, मानों तेज के फूल खिल रहे हैं। ज्वाला के इस रूप में मानों प्रकृति ही नृत्य कर रही है। निसर्ग तथा अन्तरिक्ष की सारी हलचलें, प्रक्षोभ तथा उन्मेष इस प्रभामंडल से सूचित होते हैं। नटराज की नृत्य प्रेरणा जैसे त्रिगुणात्मक प्रकृति के रोम-रोम में व्याप्त हो गई है।

आनन्द कुमार स्वामी जैसे कला मर्मज्ञों का कहना है कि नटराज का यह नादन्तनृत्य विश्व की पांच महान क्रियाओं का निदर्शक है, सृष्टि, स्थिति, प्रलय, तिरोभाव और अनुग्रह ये पांच भाव हैं। समस्त विश्व के अणुरेणु में शिवतत्त्व भरा हुआ है। शिव का त्रैलोक्य-मंगल नृत्य त्रिभुवन में अखण्ड गति से चल रहा है। इस नृत्यको क्षणभर को भी विश्राम नहीं। विश्व के अनन्त ब्रह्माण्डों का केन्द्र मानो चिदम्बरम् क्षेत्र ही है। यहां की 'कनक सभा' नटराज का नृत्य स्थल है। पिंड-ब्रह्माण्ड न्याय से हमारा हृदय भी चिदम्बरम् है और वहां भी नटराज सदैव नाचता रहता है। परन्तु यह नृत्य जीवात्मा को प्रतीत नहीं होता या भाता नहीं। क्यों? इसका कारण यह है कि अज्ञान

के पर्दे ने ज्ञान चक्षुओं को ढक रखा है। जब यह पर्दा हटेगा तब नटराज हमारे अन्तर्जगत में झलक उठेगा। तभी हम उस नृत्य को अन्दर ही अन्दर देख पाएंगे, अनुभव कर सकेंगे।

रसिकों तथा प्रेक्षकों को बाह्य जगत से अन्तर्जगत की ओर ले जाकर, भावनात्मक सृष्टि के रमणीय स्थल तथा रत्नभंडार उनके सम्मुख प्रदर्शित करना ही कला का धर्म है। नटराज की मूर्ति घड़ने वाले कलाकारों ने यह कार्य उत्तम रीति से किया है। रसिक मर्मज्ञ और तत्त्ववेत्ता भी इस महान कलाकृति पर मुग्ध होते हैं। उस मूर्ति की ओर टकटकी लगाकर देखने से ऐसा प्रतीत नहीं होता कि वह खड़ी है। लट्टू चरम गति से घूमता हुआ भी जिस प्रकार स्थिर प्रतीत होता है, वैसा ही उस मूर्ति में भास होता है। किन्हीं को उस मूर्ति में से हिंडोल, मालकोस जैसे राग भी अनाहत नाद द्वारा उठते हुए प्रतीत होते हैं।

नटराज की मूर्ति शास्त्र, धर्म और कला का त्रिवेणी संगम है। यह कलाकारों का देखा हुआ अनुपमेय स्वप्न है। अद्भुत प्रतिभा और प्रखर साधना से कलाकार ने अपने उस स्वप्न को मूर्त रूप दिया है। उसकी साधना परतत्त्व को स्पर्श करके आगे गई है। भौतिक वाद की मर्यादा को पार करके उसने मानों अध्यात्म के सरोवर में डुबकी लगाई है। इस कलाकार का नाम तथा गोत्र संसार को अज्ञात है और अज्ञात ही रहेगा। क्योंकि वह अपनी कला से पृथक ही नहीं रहा। जो नाम नट-राज का है, वही उसका है।

१० / बोधिवृक्ष

ईसा की सातवीं शताब्दी में एक बड़ा ग्राश्चर्य हुग्रा कि एक महा श्रद्धानिष्ठ धर्माचार्य भारत ग्राया। इसका नाम ह्यू-एन-त्सांग था ग्रौर वह चीनी बौद्ध था। बुद्ध भूमि का साक्षात् करने तथा यहां की ग्रन्थ सम्पदा के ग्राधार पर बौद्ध तत्व ज्ञान का गहन ग्रध्ययन करने के उद्देश्य से उसने भारत यात्रा की थी। निर्जन रेगिस्तान, घने जंगलों, दुर्गम पहाड़ों ग्रौर ग्रनेक हिंस्र पशुग्रों के वासों को पार करने के बाद, हजारों मील की थका देने वाली यात्रा करके वह भारत ग्राया था। इस लंबे प्रवास में बुद्ध की करुणा ही उसका संबल था।

भारत ग्राने पर ग्रनेक बौद्धक्षेत्रों के दर्शन करते करते वह बुद्धगया पहुंचा। बुद्धगया ग्रर्थात गौतम की विहार भूमि ग्रौर उनकी ज्ञान गंगा के संबोधि की गंत्रोत्री बौद्ध संस्कृति का ग्रादि-पीठ। इनके दर्शन करके ह्यू-एन-त्सांग को मानो निर्वाण प्राप्त हो गया। जिसकी छाया में गौतम को बुद्धत्व प्राप्त हुग्रा था। वह बोधिवृक्ष भी वहां खड़ा लहलहा रहा था। ह्यू-एन-त्सांग ने बुद्धभावना से ही उसके दर्शन किए। ग्रपने यात्रा-वर्णन में उसने लिखा है :

"इस ग्रश्वत्थ वृक्ष के पत्ते पतझड़ ग्रौर ग्रीष्म में भी नहीं झड़ते। केवल बुद्ध के निर्वाण-प्राप्ति के दिन ही पत्ते झड़ते हैं। परन्तु दूसरे दिन उसमें नई कोंपलें फूट पड़ती हैं। वह वृक्ष फिर घने पत्तों से लहलहाने लगता है। इस मंगल पर्व पर प्रति वर्ष दूर-दूर से ग्राए हुए राजा-महाराजागण बोधिवृक्ष की छाया में एकत्र होते हैं। वे लोग बोधिवृक्ष का दूध से ग्रभिषेक करते हैं तथा पुष्पांजलि ग्रर्पित करते हैं। फिर दीपक जलाते हैं तथा महोत्सव मनाते हैं। वापसी पर जाते समय उसके कुछ पत्ते

प्रसाद के रूप में अपने साथ ले जाते हैं। सम्राट अशोक जब बुद्धगया पहुंचा तो उसने इस वृक्ष की रक्षा के लिए चारों ओर ईंटों की दीवार चिनवा दी।"

यह पवित्र ज्ञान वृक्ष बुद्धगया में आज भी है। आज भी प्रति वर्ष उसमें लाल कोंपलें चमकती हैं और उसके पत्तों की सरसराहट सुनाई पड़ती है। आज भी निरंजना नदी के पाट को स्पर्श करती हुई वायु बोधि वृक्ष की गोद में पहुंचकर उसकी शाखाओं से खिलवाड़ करती है। आज का बुद्धगया का मन्दिर इसी वृक्ष के पास खड़ा हुआ है। प्रति वर्ष हजारों बौद्ध तथा हिन्दू भी इस पवित्र स्थान के दर्शनों को आते हैं। यहां के वातावरण में सदियों से गूंजता आ रहा बुद्ध का धर्म सन्देश आने वाले यात्रियों के कानों में वायु-लहरियों के रूप में सुनाई पड़ता है।

बुद्धगया का प्राचीन नाम उरुवेला है। यहां पहुंचकर इस वृक्ष के नीचे धारणा-पूर्वक ध्यान करने से पहले गौतम ने उग्र तप किया था। उपवास और कठोर तपश्चर्या से गौतम ने अपने सुन्दर और रूपवान शरीर को सुखाकर कंकाल जैसा बना लिया था। परन्तु ज्ञान दृष्टि से भी यह प्रत्यय होने पर कि इस काया-कष्ट से कोई लाभ नहीं, बुद्ध ने मध्यम मार्ग अपनाया। ध्यान और चिन्तन इसके लिए उपयोगी ठहराए तथा निश्चय किया कि सात्विक आहार लेना चाहिए। वह इस निर्णय पर पहुंचे कि मन स्वस्थ हो तभी समाधि लगती है।

अन्न का एक ग्रास मिल जाता तो ठीक होता, परन्तु गौतम में तो अब उठने तक की शक्ति नहीं थी। जैसे-तैसे वह हाथों के बल अपने स्थान से उठे। निरंजना नदी में उतर कर स्नान किया लेकिन वापस तट तक पहुंचना कठिन हो गया। आस पास ऐसा कोई भी नहीं था जो हाथ पकड़कर पहुंचा देता। तट पर खड़े वृक्षों की शाखाएं नदी के जल में झुक रही थीं। उन्हें

पकड़कर वुद्ध ऊपर आ सके। उसी प्रकार लड़खड़ाते हुए पावों से चलकर वह पास के एक अश्वत्थ वृक्ष के नीचे बैठ गए। उनका मन स्थिर था परन्तु शरीर पहले से भी अधिक शिथिल हो गया था। सचमुच गौतम के प्राण उस समय संकट में पड़ गए थे।

तभी एक अनपेक्षित घटना घटी। वहां के गोप-राजा की कन्या सुजाता उधर से जा रही थी। उसने गौतम को देखा। गौतम को देख कर उसने सब कुछ समझ लिया। वह जल्दी से घर पहुंची और खीर तैयार करके ले आई। वहुत श्रद्धा से उसने गौतम को खीर खिलाई। खीर खाकर गौतम तृप्त हो गये और क्षण भर में ही उनका तनमन हराभरा हो गया। यह घटना भी वोधिवृक्ष के नीचे घटी थी। ज्ञान प्राप्ति से पहले आवश्यक वल उन्हें इसी वोधिवृक्ष से प्राप्त हुआ।

गौतम ने अपना ध्येय निश्चित किया। जव तक जरा और मृत्यु से ग्रस्त संसार को दुःखमुक्त करने वाली मूल औषधि प्राप्त न हो, तव तक आसन नहीं छोड़ूंगा। देहं वा पातयेत् अर्थं वा साधयेत् !

परन्तु गौतम की यह समाधि धर्म के कट्टर वैरी 'माद' (कामदेव) को सहन न हुई। गौतम की समाधि की दाह से वह जल उठा। उसने अप्सराओं की सेना को गौतम पर आक्रमण करने का आदेश दिया। हाव-भाव और कटाक्षों के अस्त्रों से उस पर आक्रमण होने लगा। किन्तु गौतम पर इसका रत्ती भर भी प्रभाव नहीं पड़ा। दृढ़ता का वह महापर्वत सारी शृंगार-चेष्टाओं की उपेक्षा करके अविचल वैठा रहा। अन्त में कामदेव अपनी सारी कुचेष्टाओं को व्यर्थ समझ कर वहां से चला गया।

इस काम-विजय के कुछ समय पश्चात् ही वैशाखी पूर्णिमा

के ब्राह्ममुहूर्त्त में गौतम के हृदय में ज्ञानोदय हुआ। मानों हाथ में दीपक आते ही अंधकार भाग गया। जगत के दुख-नाश का, उसके कारणों सहित, निश्चित उपाय उन्हें मिल गया। गौतम सिद्धार्थ थे, अब बुद्ध हो गये।

इस ज्ञान-समाधि में बुद्ध को चार आर्य सत्य प्रतीत हुए। प्रथम आर्य-सत्य, दुख। यह पंचस्कन्ध जीवित दुखमय है। दूसरा आर्य-सत्य दुख का उदय। इस दुख का कारण है सुख की तृष्णा। तीसरा आर्य-सत्य, दुख निरोध। त्याग और वैराग्य इसका उपाय है। चौथा आर्य-सत्य अष्टांगिक मार्ग है। यह दुख निवृत्ति की ओर जाने वाला मार्ग है। बुद्ध ने इन चार आर्य-सत्यों के रूप में अपने धर्म का सारसर्वस्व संसार को दे दिया।

आगे चलकर बोधिवृक्ष इन्हीं चार आर्य-सत्यों का प्रतीक बन गया। बौद्ध जगत में उसे असीम सम्मान मिला। सम्राट अशोक की पुत्री संघमित्रा बुद्ध धर्म का प्रचार करने को जब लंका जाने लगी तब इसी बोधिवृक्ष की एक शाखा अपने साथ ले गई। उसने लंकावासियों को कहा : भगवान बुद्ध की विश्वव्यापी करुणा की जड़ मैं इस शाखा के रूप में तुम्हारे प्रदेश में जमाती हूं। फिर उसने लंका की राजधानी अनुराधापुर में समारोहपूर्वक इस शाखा का आरोपण किया। संघमित्रा के उपदेशों से लंका बुद्धानुयायी बन गया। आज उस जगह वही शाखा विशाल वृक्ष के रूप में विद्यमान है। उसी वृक्ष की शाखाएं लंका के विभिन्न स्थानों में आरोपित की गईं और वे भी आज अपनी जड़ें जमाकर वृक्ष रूप में खड़ी हैं। इस प्रकार मूल बोधिवृक्ष का द्वीप-द्वीपान्तर में बहुत बड़ा वंश विस्तार हुआ है।

सम्राट अशोक की उस बोधिवृक्ष पर अत्यन्त श्रद्धा थी। उसके दर्शन से जैसे अशोक के हृदय में नव-जीवन तथा उत्साह का सन्चार हो जाता था। "बुद्ध का सन्देश सारे जगत में

पहुंचा दो" यह सन्देश मानो वोधिवृक्ष की प्रत्येक शाखा झूम-झूम कर उस के कानों को सुनाती थी। उसने अपने भंडार की अनेक रत्न मालाएं वोधि वृक्ष को अर्पित कर डालीं।

अशोक की पटरानी तिष्यरक्षिता स्वभाव से ही कुछ कलह-प्रिय थी। उसकी शृंगार-पेटी से जव एक के वाद एक हार गुम होने लगे, तो उसके मन में अनेक प्रकार की शंकाएं उठने लगीं उसने सोचा कि सम्राट का किसी और नारी से प्रेम है। उन्होंने उसे हार दे दिए हैं और इस वात को छिपाया है। उसकी ईर्ष्या ठीक वैसी ही थी जैसी कि ययाति पर देवयानी की थी। तिष्यरक्षिता की एक दासी जादूगरनी थी। वह अनेक प्रकार के टोने करती थी। रानी ने जादूगरनी से कहा कि तू ऐसा जोरदार जादू कर कि मेरे रत्नहार जिस के शरीर की शोभा वढ़ा रहे हों उसे सूखा रोग लग जाय। वह तिल तिल करके मर जाय।

जादूगरनी ने रानी की आज्ञानुसार जन्तर-मन्तर किया। परिणाम-स्वरूप वोधि वृक्ष के पत्ते झड़ने लगे, टहनियां सूखने लगीं, छाल काली पड़ने लगी। उसका जीवन रस सूखने लगा। वोधि वृक्ष मरणासन्न हो गया। अशोक ने अपने पूजनीय वृक्ष की विपन्न दशा देखी। ऐसा क्यों हुआ, कैसे हुआ, इसकी उसने वारीकी से जांच शुरू की। जाँच करने पता चला कि वोधि वृक्ष की रुग्णता का मूल कारण उसकी रानी के हाथ में है। राजा ने तुरन्त तिष्यरक्षिता को बुलाया और उसके भ्रम और संशय को दूर कर दिया। तिष्यरक्षिता वहुत लज्जित हुई। उसे भी वोधि वृक्ष के प्रति श्रद्धा थी। उसने जादूगरनी को बुलाकर जादू-टोना वापस लेने की आज्ञा दी। जादू-गरनी ने टोना वापिस ले लिया तो वोधि वृक्ष फिर हरा भरा होकर लहलहाने लगा।

परन्तु महान विभूतियों के संकट भी महान होते हैं। वोधि

वृक्ष पर अकेला यही प्राण संकट नहीं आया। ईसा की सातवीं शताब्दी में शशांक नामक राजा हुआ। वह बौद्ध धर्म का कट्टर वैरी था। उसने सोचा कि बोधि-वृक्ष के टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाएं तो बौद्ध-धर्म का ही अन्त हो जायगा। यह सोचकर उसने अपना द्वेष बोधि-वृक्ष की जड़ पर उतारा। 'कुम्हार पर बस न चला तो गधे के कान उमेठें' यह कहावत चरितार्थ हुई। बोधि वृक्ष शाखा-पल्लवों सहित धराशायी कर दिया गया। परन्तु बुद्ध-धर्म जिस प्रकार समस्त एशिया की मानव जाति के हृदय में जड़ें जमा रहा था उसी प्रकार बोधि वृक्ष की जड़ें भी पृथ्वी में बहुत गहरी और दूर दूर तक फैल गई थीं। इस कारण मुख्य वृक्ष गिर गया परन्तु अगली बरसात में उसी के आस पास नई कोंपले फूट पड़ीं और अपनी शोभा दिखाने लगीं।

आगे चलकर १८७६ में उस क्षेत्र में भयानक तूफान उठा। विनाशपूर्ण आंधी जैसे प्रलय-ताण्डव करने लगी। वनों को ध्वस्त करके उसने अपनी विनाशक शक्ति का परिचय दिया। झंझावात में पड़कर बोधि-वृक्ष फिर उखड़ गया। बुद्ध धर्म के प्राण-रूप प्रतीक इस बोधि-वृक्ष का एक प्रकार से नाम ही शेष रह गया। अगणित बुद्ध भक्तों को दुर्दैव के इस प्रकोप से मर्मान्तिक पीड़ा हुई। परन्तु बोधि वृक्ष फिर भी अमर रहा। उसने फिर नये अंकुरों के रूप में सिर ऊंचा करके बुद्ध-भक्तों की श्रद्धा को नव जीवन दिया।

फिर भी हजार वर्ष की अवधि में बोधि-वृक्ष पर जो संकट आये, उसके कारण बौद्ध-पण्डितों में उसके प्रति विश्वास की भावना नहीं रही। आज भी बौद्ध विद्वान वृक्ष तो उसी स्थान पर देखते हैं, परन्तु उनके मन में यह प्रश्न उठता है कि मूल वृक्ष यह कैसे हो सकता है ? शायद वह वृक्ष तो जीर्ण होकर

गिर गया होगा और उसके स्थान पर किसी ने दूसरा वृक्ष लगा दिया होगा। ऐसा मान कर १९५२ में सांची में जब सुप्रसिद्ध बुद्ध-शिष्य सारिपुत्तमोग्गलायन की अस्थियों का वहां सूप में स्थापन समारोह हुआ, तो उस समय बोधि-वृक्ष की जो शाखा लाई गई, वह बुद्धगया के वृक्ष से न लाकर अनुराधापुर (लंका) से लाई गई। इससे पहले काशी के मूलगंध कुटी विहार में
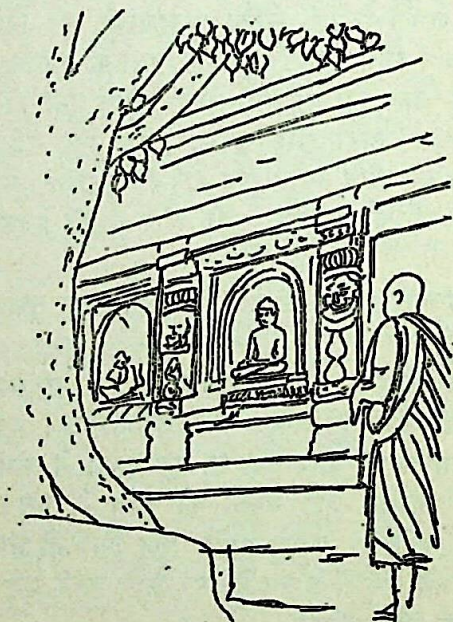
बोधिवृक्ष

बोधि-वृक्ष की जो शाखा स्थापित की गई थी वह भी लंका से लाई गई थी। अनुराधापुर का वृक्षही आज मूल बोधि-वृक्ष का अधिकारी माना जाता है। अनेक विद्वानों की धारणा है कि पीपल का ही दूसरा नाम अश्वत्थ है। भारतीय संस्कृति में

अश्वत्थ का असाधारण स्थान है। वैदिक काल में ही नहीं, बल्कि उससे भी बहुत पहले से पीपल बहुत पवित्र और सर्व पूज्य माना गया है। उसमें अनेक देवताओं का वास है। ऐसी श्रद्धा प्राचीन काल से भारत में दृढ़मूल है। भगवान कृष्ण ने गीता के दशम अध्याय में अपने विभूति योग का वर्णन किया है। उसमें चराचर वस्तुओं में मेरी विभूति किस किस में हैं, यह बताते हुए उन्होंने 'अश्वत्थ सर्व वृक्षाणां' कहकर वृक्ष जाति में अपनी विभूति बतलाई है। उसमें देवत्व की स्थापना की है। इतना ही नहीं, आगे चलकर पन्द्रहवें अध्याय में त्रिकाल-व्यापी विश्व प्रपंच का जो निरूपण किया है उसमें भी अश्वत्थ वृक्ष के रूप का आधार लिया गया है :

ऊर्ध्वमूलमध: शाख मश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥

अश्वत्थ एक विचित्र वृक्ष है। इस वृक्ष की जड़ तो ऊपर है और शाखाएं तथा पत्ते नीचे हैं। लेकिन तब भी यह कभी सूखता नहीं और उखड़ता नहीं। उखड़ने पर भी उसकी शाखाएं तथा पत्ते हरे भरे दीखते हैं। सूर्य आकाश में तपता है, परन्तु उसकी किरणें नीचे सब जगह फैल जाती हैं। उसी प्रकार इस वृक्ष का विकास नीचे ही नीचे होता है। इसकी जड़ माया में है। ब्रह्म के आधार पर यह पुष्ट हुआ है। यह सनातन है, शाश्वत दीख पड़ता है, परन्तु वास्तव में यह क्षणभंगुर है। इसका प्रतिक्षण विनाश होता रहता है। इसी लिए ज्ञानी लोग इसे 'अश्वत्थ' (अ+श्व+स्थ= कल तक भी न ठहरने वाला) कहते हैं। यह विनाशशील है, परन्तु आश्चर्य की बात है कि लोग इसकी क्षणभंगुरता को नहीं समझते। इसका कारण अश्वत्थ की प्रचण्ड गति है। महाराष्ट्र के महान सन्त ज्ञानेश्वर महाराज ने इस गति का एक दृष्टान्त द्वारा वर्णन

किया है :—

"जाता वेगें वहु वसें। न वचे कां भूमि रुतलें असे
स्थाचें चक्र दिसे। जियापरी ।।
तैसें कालातिक्र में जे वाले। ते भूतशाखा जेथ गले
तेथ कोडीवरी उमाले। उठती आणिक ।।
परी ये की केधवां गेली। शाखा कोडि केधवा जाली
हें नेणवे जेवीं उम ललीं। आषाढ़ अभ्रें ।।"

भाव यह है कि रथ के चक्र वड़ी तेजी से घूमते हुए ऐसे प्रतीत होते हैं मानों जमीन में ही टिक गए हैं। आषाढ़ मास में जिस प्रकार घुमड़ते हुए वादल एक के बाद एक आते रहते हैं परन्तु उनका पता नहीं चलता, उसी प्रकार काल की प्रचण्ड गति से इस संसार रूपी अश्वत्थ से जीवरूपी शाखाएं कब टूट कर गिर पड़ती हैं, और वहीं पर उनके करोड़ों अंकुर किस प्रकार निकलते हैं, यह पता नहीं चलता।

भारतीय जनता ने अनेक वृक्षों को अपनी संस्कृति में महत्व-पूर्ण स्थान दिया है। वड़, पीपल, गूलर, आदि वृक्षों में देवताओं का वास है। हिन्दू संस्कृति की इस धारणा को वौद्ध भी स्वीकार करते हैं। उरु वेला गांव में क्या छायादार वृक्षों की कमी थी, परन्तु वोधिसत्व गौतम ने, संसार को क्लेशमुक्त करने वाले ज्ञान की प्राप्ति के लिए पीपल वृक्ष के नीचे ही वज्रासन लगाया। इसके पीछे अश्वत्थ के संबन्ध में एक महान और उच्च सांस्कृतिक परम्परा खड़ी है।

११ / योगीश्वर और शेष-शायी

यज्ञ, दान और तप, भारतीय संस्कृति के तीन प्रधान अंग हैं। छान्दोग्य उपनिषद ने इन्हें 'त्रिस्कन्ध धर्म' कहा है। इन तीनों में तप व्यक्तिगत साधना का भाग है। पृथ्वी सूर्य की गर्मी से तपती है और वर्षा की पहली ही फुहार से उसमें अंकुर फूटने लगते हैं। तप भी वैसा ही है। हमारे सिर के ऊपर जो विस्तृत आकाश है, उसमें अनन्त तारारत्न खचा-खच भरे हैं। इन तारा गणों की दृश्य संख्या की अपेक्षा अदृश्य संख्या कहीं अधिक है। यह अदृश्य रत्न-सम्पदा इन आंखों से दीख नहीं पड़ती। इसे देखने के लिए बहुत क्षमतावाली दूरबीन के लैन्सों में होकर देखना पड़ता है। तभी वे अदृश्य तारे नजर आते हैं।

यह जीवन भी आकाश के समान खोखला है। इस खोखले जीवन में भी अनेक आशय तथा सूक्ष्म सिद्धान्त भरे हुए हैं। जीवन के ये भेद और सूक्ष्म सिद्धान्त तपरूपी दूरवीन के द्वारा ही प्रतीति में आते हैं। नये तत्त्व, नये विचार, नयी शक्तियाँ और नयी ज्योतियाँ तप से ही प्राप्त होती हैं। भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड तप ही है। मानव जीवन तप से ही प्राणवान और रसमय बनता हैं। यह सनातन अनुभव है।

शिव, बुद्ध, महावीर, नर-नारायण , भगीरथ, पार्वती आदि के जीवन में जो अनोखा और अनुपमेय सौन्दर्य प्रतीत होता है, वह तप का ही सौन्दर्य है। इन दिव्य विभूतियों ने महान ध्येय और महत्तत्त्व की प्राप्ति के लिए जो उग्र तप किया, वही तप उनके व्यक्तित्त्व का प्रवल आकर्षण सिद्ध हुआ। इस आकर्षण का वोध सबसे पहले भारतीय शिल्पकारों की प्रतिभा को हुआ और भारतीय संस्कृति को 'तपोयोग समाधि' के महान आशय की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने 'योगीश्वर' की

मूर्ति निर्माण की।

मोहन-जो-दड़ो की खुदाई में योगीश्वर की प्रतिमा प्राप्त हुई है। आजतक के ऐसे शिल्प निर्माण में वही मूर्ति सर्वप्रथम मानी गई है। उस खुदाई में अनेक वस्तुएं निकली हैं। तत्कालीन आधिभौतिक जीवन पर वे वस्तुएं थोड़ा बहुत प्रकाश डाल सकती हैं। परन्तु उन वस्तुओं में योगीश्वर की यह एक ही ऐसी मूर्ति है जो सिन्धु-संस्कृति के आध्यात्मिक पहलू पर प्रकाश डालती है। इस मूर्ति से सिद्ध होता है कि तप और योग, ये दोनों साधनाएं वैदिक संस्कृति के पूर्व से ही भारत में प्रचलित थीं।

आगे चल कर जब मूर्ति कला का स्वतंत्र विकास हुआ तो इस मूर्ति को योगीश्वर के इस प्रतीक के रूप में स्वीकार लिया गया। उसे वैसा ही महत्व भी मिला। बुद्ध और महावीर की योगस्थ प्रतिमाओं का विभिन्न कलाकारों ने विभिन्न स्थानों पर निर्माण किया और योगस्थ शिव की मूर्तियां भी बनने लगीं। गुप्त काल में ऐसी मूर्तियों को सुबद्ध तथा प्रतीकात्मक आकार प्राप्त हुआ। योग और तप के नाम हीभिन्न नहीं इनकी परिभाषाएं भी स्वतंत्र हैं। तब भी तप में योग का अंश आता है। मंत्र तथा उसके अर्थ की मनोयोग से साधना के विना तप में तेजस्विता नहीं आती: योग में भी तप का भाग है। वहां भी मनोनिग्रह, इन्द्रियनिरोध अर्थात यम नियमों की आवश्यकता प्रारंभ से ही पड़ती है। उनके विना अष्टांग योग का समाधि-शिखर नहीं हुआ जा सकता, अतएव ये दोनों साधनाएँ भिन्न होने पर भी अन्योन्याश्रित हैं। तप चाहे शिव के जीवन में हो, बुद्ध अथवा महावीर के जीवन में, उसकी परिभाषा समान ही है। तत्त्व में मतभेद भले ही हो परन्तु तप में भेद नहीं। वैदिक संस्कृति की ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन शाखाओं ने तप को समान महत्त्व दिया है। और

योगमग्न शिव

कलाकारों ने उस तप की अव्यक्त भावना को व्यक्त करने के लिए 'योगीश्वर' प्रतीक का निर्माण करके स्वयं को धन्य माना है। पद्मासन, योगमुद्रा, दोनों घुटनों पर दो कमल, 'समकाय शिरोग्रीवम्', नासाग्र पर अर्द्धोन्मीलित दृष्टि, ऐसी 'लिपि' को ठोस रूप में इस प्रकार व्यक्त किया है कि तप तथा योग का अर्थ सामान्य लोगों की भी समझ में आ जाय।

भगवान बुद्ध की योगमूर्ति भारतीय संस्कृति का आंचल पकड़कर देश-देशान्तर में गई और उसने उन-उन देशों की जनता के हृदयों में अपना स्वामित्त्व स्थापित किया। अनेक देशों और द्वीपों का भारत की ओर आकर्षण बढ़ा। अपने शाश्वत कल्याण के लिए, जीवन में महा-मंगल की अनुभूति के लिए उन्होंने भारतीय आदर्शों को श्रद्धा के साथ स्वीकार किया।

मूर्तिकारों की लिपि एक प्रकार से खुली तथा साफ है। परन्तु उनका आशय गुप्त और गंभीर है। वह जितना स्पष्ट है उससे अधिक ढका हुआ है। उसका उद्घाटन करने के लिए किसी प्रतिभा सम्पन्न पुरुष को ही आगे आना चाहिए। कवि कुल गुरु कालिदास ने यह काम भली भांति सम्पन्न किया है। योगमग्न शिव का वर्णन उसने कुमारसंभव के तीसरे सर्ग में इस प्रकार किया है :—

"शिव पलथी मारकर बैठे हैं। उन्होंने अपनी ऊर्ध्व देह सीधी और निश्चल कर रखी है। कन्धे तनिक झुके हुए हैं। दोनों हाथों की हथेलियां दोनों घुटनों पर चिन रखी हैं। मानो उनके घुटनोंसे दो खिले कमल ऊपर आए हैं। उन्होंने अपने मस्तक की जटाओं को ऊँचा करके —सर्पों की डोरी से कस रखा है। उनके दाहिने कान में रुद्राक्ष की दोहरी माला लटक रही है। कृष्ण मृगचर्म ओढ़ कर दोनों सिरों में कड़ी गांठ बांध रखी है। मृगचर्म कृष्ण वर्ण है और उस पर शिव के नील कण्ठ की आभा पड़ रही है। अतएव मृगचर्म का कृष्ण वर्ण और अधिक घना हो गया है। तीनों नेत्रों की चंचल पुतलियों को स्थिर करके अपनी दृष्टि को नासाग्र पर टिका दिया है। अर्द्धोन्मीलित होने के कारण नेत्रों का कुछ प्रकाश नासिका के अग्रभाग को प्रकाशित कर रहा है। समस्त देह में संचार करने वाले प्राणों का विरोध करके वह निर्वात तथा निष्कंप दीपक की भांति अविचल विराजमान है। जैसे घिर कर आने वाले परन्तु बिन-बरसे मेघ अपनी उच्छृंखल तथा वेगवान लहरों को अपने में ही समाता हुआ दीखने वाला महासागर ! नव द्वारों से बाहर झरने वाले मन को रोक कर उन्होंने हृदय में प्रतिष्ठित कर रखा है। बाहर से हटाकर उसे अन्तर्मुखी बना लिया। इतना सब कुछ करके सर्वान्तर्यामी आत्मतत्त्व का अपनी ही आत्मा में साक्षात कर रहे हैं।

योगीश्वर शिव के इस रूप ने आज तक असंख्य मुमुक्षुओं के मन में तप और साधना की प्रेरणा उत्पन्न की है। शून्य में हाथापाई जैसे इस अनगढ़ मार्ग में असंख्य साधकों को शिव के इस रूप ने धैर्य और आश्वासन दिये हैं। काम, क्रोध आदि विकारों से दो दो हाथ करने वाले साधकों के लिए यह रूप वज्र के समान बन गया है। भारतीय ऋषि-मुनियों का सम्मिलत तप

ही मानों इस रूप में साकार हो उठा है। यह रूप हमें संयम सिखाता है। प्राणों में तेजस्विता का स्रोत प्रवाहित करता है। दुनिया के झंझटों और जंजालों से हटाकर चिन्तन के प्रदेश में ले जाता है। हमारे लिए नए नए आशयों के द्वार खोलता है। सुप्त मुमुक्षु को जगा कर उसमें दिव्य जीवन के प्रति चटक लगाने वाले इस प्रतीक जैसा सामर्थ्यवान दूसरा कोई भी नहीं। "आत्मा वा रे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः', बृहदारण्यक का यह आदेश मानों इस प्रतीक पर गहरे और अमित रूप में अंकित किया गया है।

भारतीय कला की एक अनोखी और अर्थपूर्ण परिभाषा अर्थात् शेष-शायी विष्णु ! वेद में नारायण ऋषि का कथन है कि वह सहस्र शीर्षा होकर अनन्त है। समस्त विश्व में व्याप्त हो कर भी वह दशांगुल मात्र रहता है। और वह है 'शेष'। महाप्रलय के वाद शून्यावस्था में वही अकेला रह जाता है। विश्व में व्याप्त हो रहा विष्णु इस 'अनन्त' शेष के आधार पर ही स्थित है।

शेष-शायी विष्णु

यह एक दार्शनिक विचार है। उसे आकृतिबद्ध तथा चिर-स्थायी करने के लिए कलाकारों ने 'शेष-शायी विष्णु' या 'अनन्त शयन' का प्रतीक निर्माण किया। दक्षिण में श्रीरंग क्षेत्र में, देव-गढ़ के दशावतार मन्दिर में तथा वैद्यनाथ आदि विभिन्न स्थानों

पर शेष-शायी विष्णु की मूर्तियां मिलती हैं।

इस प्रतीक की पौराणिक कल्पना सामान्य तथा निम्न प्रकार है और कलाकारों ने उसमें निजी कल्पना का थोड़ा बहुत पुट दे दिया है:—

"चारों ओर अन्धकार का आवरण और उसके नीचे अथाह नीला सागर। उसका नाम है क्षीर सागर। चारों ओर जल ही जल है। इस प्रलयकालीन नील सागर पर शेष नाग पसरा हुआ है। टेढ़ा-मेढ़ा नहीं, बल्कि अपनी देह को शैया के समान लंबी लपेट लपाट कर। उस पर घन-नील विष्णु योग-निद्रा में बायीं करवट लेटे हुए हैं। उनके मस्तक पर शेष ने अपने सहस्र फणों से छत्र तान रखा है। शंख, चक्र, गदा और पद्म विष्णु के हाथों में हैं, तो कहीं उनके हाथों के पास रखे हुए हैं। उनका एक चरण गोडे पर है और उसे लक्ष्मी अपने कोमल हाथों से दबा रही हैं। उनकी नाभि से कमल नाल ऊपर उठकर आ रही है। उस सहस्र दल कमल से ब्रह्मा का जन्म हुआ है, और चतुर्मुख के आठ नेत्र मानों वह उस अनन्त आकाश की शोध कर रहे हैं। वह कुछ गुम सुम हो कर देख रहे हैं। जो महा-शून्य अवकाश है उसके चारों कोनों को चौरासी लाख योनियों के छोटे-मोटे प्राणियों से भर देना चाहते हैं। इसके लिए मानों अपने जनक के आदेश की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

शेष नाग पर विष्णु की यह प्रगाढ़ निद्रा भी ध्यान देने योग्य है। वह विश्व में व्यापक होकर भी उससे अधिक बाहर रहने वाला है। इसीलिए उसे विष्णु कहा जाता है। वह शेष नाग की शैया पर लेट सकता है। अर्थात वह काल पर सत्ता स्थापित करने वाला महाकाल है!

यस्मिस्तु पच्यते कालो यस्त वेद स वेदवित्—

उसका गठित घनश्याम रूप है। इस रूप के हृदय में चरा-

चर सृष्टि का बीज सुरक्षित है। खेत में बीज पेरने के लिए बांधी हुई किसान की पोट जैसी। इन बीजों से सकल सृष्टि फिर अंकुरित होगी और फूलेगी। लेकिन यह बीज पोट से बाहर कब गिरेगा, कैसे गिरेगा ? उस काल के बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उस अवस्था में काल नामक किसी पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं होता। परन्तु यह सच है कि किसी न किसी समय संकल्प का आदि-बीज उस हृदय से बाहर पड़ना शुरू होगा। 'एकोऽहं बहुस्याम प्रजायेय:' मैं एक हूं। अकेला हूं। मैं अनेक होऊंगा। प्रजा की अभिवृद्धि करूँगा। ऐसी प्रतीति शेषशायी नारायण को उस संकल्प-बीज से अविरत होती रहेगी। और फिर कमलनाल उनके नाभि-चक्र से एकदम बाहर निकल आयेगी। विधाता ब्रह्मा उसी में से जन्म लेगा।

नारायण का यह चिन्तन रजोगुणात्मक है। रजोगुण का वर्ण लाल माना गया है। अर्थात् शेष-शायी के चित्र को रंगते समय कमल और कमलासन ब्रह्मा को तांबे के रंग जैसा दिखाना पड़ेगा। अब प्रश्न पैदा होता है कि विधाता की उत्पत्ति विष्णु के नाभि प्रदेश से ही क्यों ? मुख से, हृदय से या पांव से क्यों नहीं ? इसका कारण यह है कि नाभि-चक्र के मूलस्थान में ही कुंडलिनी शक्ति का स्थान है। नाभि स्थान में कुंडलिनी होने के कारण वहां अनन्त शक्ति का स्रोत माना गया है।

कमल का डंठल भी ऐसा ही है। वह नाल का प्रतीक है। जीव के गर्भावस्था में रहते समय माता के जठर का अन्नरस नाल के द्वारा उसे प्राप्त होता है और वह इसी पर पलता है। इससे यह सूचित होता है कि सृष्टि की रचना विधाता ब्रह्मा करेगा, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु उसके लिए जिस सामर्थ्य की आवश्यकता है। वह विष्णु से ही मिल सकेगी। उसे शक्ति के इसी निर्झर का उपयोग करना पड़ेगा। अब जरा कमल की

ओर भी देखें। वह किस प्रकार सर्वांग विकसित है। आगामी सृष्टि भी इसी प्रकार फूलेगी फलेगी। रूप, रस, गंध, कर्म और ज्ञान, इनसे उसका विकास होगा। कमल की कली सामान्यतया अण्डे जैसी लंबोतरी और फूली हुई होती है। उसकी पंखुड़ियां, उसका रंग और सौरभ, सब उसी कली के अण्डे में समाए हुए हैं। चराचर सृष्टि को भी ब्रह्माण कहा जाता है। यह अण्डा फूटा कि उसमें से यह पंच-भौतिक विश्व-प्रपंच व्यक्त हुआ।

और अब विष्णु के हाथ में अर्थात पास रखे हुए पांचजन्य शंख को निहारें। शंख पोला होता है अर्थात इससे ध्वनि निकल सकती है। शंख अनन्त आकाश का प्रतीक है। आकाश पोला है तभी उसमें से 'शब्द' प्रकट हुआ। इसी प्रकार यह चक्र है। 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम', ऐसा है यह संसार चक्र। यह चक्र सदैव फिरता रहता है। अर्थात सृष्टि में परिवर्तन, नवीनता, तथा आवागमन होते रहते हैं अर्थात यह 'राम' है।

विष्णु के गले में जो कौस्तुभमणि है वह भी विचारणीय है। वह किस प्रकार सदा झिलमिलाती रहती है। उस पर न तो मैल चढ़ती है और न लेप लगता है। उसपर आवरण भी पड़ जाय तब भी उसका प्रकाश वाहर आये विना नहीं रहता। वह विशुद्ध तथा निर्लेप आत्मा का प्रतीक है। वह हृदय पर लोट रहा है और आत्मा भी हृदयस्थ है। कौस्तुभ का अर्थ है चैतन्य-मय आत्मा के प्रकाश में विश्व का ज्ञान प्राप्त करना।

चरणों के पास लक्ष्मी—विश्व की आदि माता अर्थात त्रिगुणात्मक प्रकृति। रूप और गुण से हलचल पैदा करने वाली। वह अमूर्त की मूर्ति है। उसी की प्रसन्नता के लिए विष्णु ने घनश्याम, तथा सर्वांगीण सपरिवार रूप धारण किया है। लक्ष्मी विष्णु के पांव दवाती है। अर्थात उनकी सेवा करके उनके पति-

त्व की सत्ता पर अपना सौभाग्य प्रदर्शित कर रही है। यह सब आशय कवि कल्पित है तथापि कल्पना पुराणों की है। विष्णु पुराण में इस प्रतीक का समस्त विवेचन मिलता है। मूर्तिकार तथा चित्रकार, दोनों ने इसी आधार पर इस प्रतीक की रचना की है।

गुप्त काल में शेषशायी के इस प्रतीक को सम्मानास्पद स्थान प्राप्त हुआ है। उसकी खूब धूम मची। बाद में कवि कुल-गुरु ने श्री राम और सीता जब पुष्पक विमान पर बैठकर लंका से अयोध्या को जाने लगे तब राम के मुख से अर्थ-गर्भित श्लोक कहलवाया :

"नाभिप्ररूढ़ाबुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा।
अमुं युगांतोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान्पुरुषोऽधिशेते॥

अर्थात् नाभि प्रदेश से निकले हुए कमल में स्थित होकर विधाता जिसका स्तवन करता है, ऐसा वह पुरुष अर्थात् शेष-शायी विष्णु प्रलयान्त में सब लोकों का संहार करके इस महा-सागर में युगान्त की योग-निद्रा में पौढ़ा हुआ है।

१२ / सरस्वती

लक्ष्मी और सरस्वती, सुसंस्कृत जीवन के ये दोनों ही समान बल वाले अंग हैं। जिस प्रकार गणेश की ऋद्धि-सिद्धि हैं, उसी प्रकार ये व्यक्ति या राष्ट्र-पुरुष की अधिदेवता-प्रत्यधि-देवता हैं। जीवन विकास के लिए दोनों की ही समान आवश्य-कता है। यदि ये दोनों न हों तो जीवन शून्य, शुष्क और आनन्द-रहित हो जाय। दोनों में यदि एक हो और एक न एक हो, तब भी जीवन एकांगी रह जाता है। जीवन में लक्ष्मी अथवा श्री

न हो तो सरस्वती किसका गुण-गान करेगी ? और सरस्वती न हो तो लक्ष्मी सबको अपनी महत्ता किस प्रकार दिखा सकेगी ? लक्ष्मी को गौरवास्पद सरस्वती ने ही बनाया है। रघुवंश, गुप्त राज्य तथा ऐसे अनेक नृपतियों की राज्य-लक्ष्मी के वर्णन पढ़िये, पता चलेगा कि लक्ष्मी का मुख उज्ज्वल करने के लिए सरस्वती का दुलारभरा हाथ उसके ऊपर रहना आवश्यक है। जब ये दोनों सहेलियां जोड़ीदार होंगी तभी जीवन को दैवी कला प्राप्त होगी।

ये दोनों देवता प्राचीन हैं, इसमें विवाद नहीं। लेकिन इन दोनों में कौन बड़ी तथा कौन छोटी है— अथवा दोनों सम-कालीन हैं, यह प्रश्न जिज्ञासुओं के मन में उठता है। इसका उत्तर पुराणों की शरण लेने पर मिल सकता है। समुद्र मन्थन से लक्ष्मी उत्पन्न हुई। वहां लक्ष्मी के स्वागत सत्कार के लिए जो सुर, असुर, ऋषि और मुनि आगे आये, उनमें सरस्वती भी थी और उसने अपने कण्ठ का रत्नहार उतार कर लक्ष्मी के गले में डाल दिया। इस प्रकार सरस्वती लक्ष्मी से बड़ी ठहरती है।

मानव-इतिहास की ओर दूर तक दृष्टि डालने से भी इस बात की सचाई का पता चलता है। सरस्वती जितनी प्राचीन देवता कोई नहीं। मनुष्य को प्रथम साक्षात्कार सरस्वती का हीं हुआ था। कारण, बुद्धि का परित्राण करने की सामर्थ्य वाग्देवता में ही संभव है, नदी में नहीं।

सरस्वती का एक और नाम भारती भी है। आर्यों के भरत कुल ने इस देश में सबसे पहले पदार्पण किया, प्रदेश प्राप्त किया और उनके साथ आये हुए ऋषियों ने यहां प्रथम यज्ञाग्नि की स्थापना की। उस अग्नि का भी 'भरत' नाम पड़ा। वैसे ही उस यज्ञ में देवताओं का आह्वान करनें वाली वाणी को भी 'भारती' कहकर

सरस्वती

गौरवान्वित किया गया। आगे चल कर सरस्वती नदी के तट पर सैकड़ों यज्ञ हुए और अनेक कुलों के ऋषियों तथा मुनियों ने एकत्र हो कर वेद घोष किये; कथा, गाथा और ऋचाओं का संग्रह किया। इनसे लाक्षणिक अर्थ में वाणी को ही सरस्वती के नाम से पुकारा जाना संभव है।

पौराणिकों ने नदी रूप और वाणी रूप दोनों सरस्वतियों को एक सूत्र में ग्रंथित करना था, उन दोनों में घनिष्ठ-सम्बन्ध दिखाना था। एत-दर्थ उन्होंने एक आख्यायिका रच कर पद्मपुराण में सम्मिलित कर दी।

इस विश्व में 'वाड़वाग्नि' नामक अनोखी आग भड़क उठी। उससे मनुष्य नहीं देवता तक भी जलने लगे। देवता गर्मी के मारे पसीने से लथपथ हो गए। उन्होंने सरस्वती से कहा : 'तू इस अग्नि को उठाकर समुद्र में डाल दे तथा विश्व का ताप शान्त कर।' सरस्वती ने उत्तर दिया : 'जाओ मैं नहीं डालती।' देवता बोले : 'इतना हठ क्यों करती हो?' उसने उत्तर दिया : 'मैं कुमारी हूं और अग्नि के स्पर्श से मेरा कौमार्य भंग हो जायगा।'

तब देवता उठे और ब्रह्मा के पास पहुंचे। उन्हें विवश किया गया और कहा : 'तुम अपनी कन्या से यह काम करा दो तथा हमारा ताप दूर करो।' देवताओं की प्रार्थना स्वीकार करके ब्रह्मा ने सरस्वती को ऐसी आज्ञा दी। वह बेचारी रोती-रोती

उस कार्य के लिए चली गई, और इस प्रकार रोते-रोते वह द्रव-रूप हो गई यानी जल रूप हो गई। कन्या थी इसलिए नदी बनी और उत्तंक ऋषि के आश्रम के पास पृथ्वी पर अवतरित हुई। तभी वहां विष्णु प्रगट हो गए। विष्णु ने वाड़वाग्नि को स्वर्ण-पात्र में भरकर उसे सरस्वती को सौंप दिया। उसे लेकर सरस्वती गुप्त रूप से पश्चिम दिशा की ओर चल दी। फिर वह पुष्कर-सरोवर के पास प्रकट हुई और उसकी धारा वहां के वन-प्रदेश में होकर आगे बढ़ी।

इस कथा से ज्ञात होता है कि पहले सरस्वती ब्रह्मकुमारी थी और बाद में किसी कारणवश नदी रूप हो गई।

सरस्वती अर्थात् वाणी। इसके जन्म के सम्बन्ध में वेदों ने इतना ही कहा है :

"देवीं वाचमजनयन्त देवाः।" अर्थात इस दिव्य वाणी को देवों ने जन्म दिया। महाभारत में उसे ब्रह्मा की कन्या माना गया है। केवल देवी भागवत में उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में निराली कथा है—

गोपालकृष्ण की परम प्रिया राधा की जिह्वा के अग्रभाग से सरस्वती का जन्म हुआ। साकार होते ही उसने श्रीकृष्ण की कामना की। इस पर श्रीकृष्ण ने उससे कहा "देवी, शारदा! तू मेरे इस द्विभुज रूप की कामना मत कर। मेरा मौलिक चतुर्भुज और शास्वत नारायण रूप है, तू उसकी शरण में जा और उससे सम्बन्ध जोड़ कर कृतार्थ हो जा।" मुझे लगता है कि इस कथा का गर्भितार्थ अनोखा है, वेद कहता है 'परोक्ष प्रिया इव हि देवा।' देवताओं को सीधे और स्पष्ट बोलने की अपेक्षा वक्रोक्ति अथवा व्याजोक्ति अधिक प्रिय है। उपरोक्त कथा में अन्तर्हित अर्थ है और वह बहुत हृदयंगम है। राधा यानी आराधना, उपासना और उससे प्राप्त होने वाली सिद्धि। 'राध' धातु

के पूजन, प्रसन्न करना, सिद्धि प्राप्त करना आदि अर्थ हैं। राधा के बिना, अर्थात आराधना व उपासना के बिना सरस्वती का आभिर्भाव नहीं होता। कवि कुल गुरु कालिदास ने काली की उत्कट आराधना की, तब वह महामूर्ख महाकवि बना। हम जानते हैं कि महाराष्ट्र के महान सन्त तुकाराम की अभंगवाणी भी प्रभु विट्ठल की कठिन आराधना से प्रकट हुई थी। आराधना के बल पर ही एक साधारण डाकू वाल्मीकि बन गया। इसी प्रकार जयदेव, तुलसीदास आदि अनेक कवियों की रसवती वाणी आराधना का ही परिणाम है। काव्य भी एक योग है, और वह, ईश्वर-प्रणिधान के बिना साध्य नहीं।

इसी कथा का दूसरा अर्थ भी है। श्री कृष्ण ने सरस्वती से कहा कि वह उनके द्विभुज तथा नाशवान और शाश्वत रूप की कामना न करके, उनके मूल अविनाशी और शाश्वत रूप की कामना करे। इसका सरलार्थ यह है कि सरस्वती जीवन के शाश्वत मूल्यों का अंकन करके उनका आदर करे। बहुधा ये मूल्य तात्कालिक और धोखा देने वाले मूल्य के फेन के नीचे ढक जाते हैं। उनका शोधन तथा कलात्मक आविष्कार करके उनको मानव जीवन में सुप्रतिष्ठित करना तथा रसिक जनों को उनके निकट लाना, यही सरस्वती के जीवन की सफलता है। संसार भुलावे में आ जाय या भूल में फंस जाय तो कदाचित चल सकता है, परन्तु सरस्वती को तो भूल कर भी भूल नहीं करनी चाहिए। उसे कृत्रिम मोतियों के आभूषण धारण नहीं करने चाहिए। नारायण को अर्थात् विश्व में व्याप्त विश्वम्भर को जाग्रत करना ही सरस्वती का आभूषण है और इसी में उसकी कृतार्थता है।

सरस्वती ब्रह्मा की पुत्री है इसमें सन्देह नहीं, परन्तु आगे चलकर ब्रह्मा की दो पत्नियों, गायत्री और सावित्री, का एक रूप

होने के कारण पर्याय से वह पत्नी भी ठहरती है। यजुर्वेद में उसका अश्विनी देवों से सम्बन्ध जोड़ा गया है। गणपति विद्या-दाता देव है। कई पुराणों में सरस्वती को उनकी अर्धांगिनी माना गया है। लक्ष्मी के समान सरस्वती के भी वैकुण्ठाधिपति विष्णु की पत्नी होने का उल्लेख पुराणों में मिलता है। तात्पर्य यह है कि सरस्वती का गृहिणी का पद कहां है, यह कहना बहुत कठिन है।

इसके बाद वाहन का प्रश्न आता है। देवता का वाहन होना ही चाहिए। यदि वाहन नहीं होगा तो भक्त के काम के लिए किस साधन से दौड़ेगा? ब्रह्मा का वाहन हंस प्रसिद्ध है। अतएव घरेलू और हक के अनुसार सरस्वती का वाहन भी हंस को ही मानना युक्तिसंगत है। कई जगह तो सरस्वती को ही हंसरूपिणी मान लिया गया है। राजतरङ्गिणी के रचयिता कल्हण का कहना है कि भेडागिरि के सरोवर में वह हंस रूप से विहार करती है और अपना 'सरस्वती' नाम सार्थक कर रही है। प्राध्यापक गोडे की मान्यता है कि ईसा की छठी शताब्दी के जो सोने के सिक्के मिले हैं, उनपर सरस्वती के चरणों में हंस बैठा हुआ है। सोलहवीं शताब्दी तक की हस्तलिखित पोथियों में सरस्वती के जो चित्र अंकित हैं, उनमें भी वह हंसारूढ़ा ही है। जैनियों के प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव हुए हैं। उनके शासन देवता का नाम 'चक्रेश्वरी' है। यह चक्रेश्वरी अपनी सरस्वती ही है। उसका वाहन भी हंस ही है।

परन्तु आधुनिक काल में वह मयूरवाहिनी है तो क्यों है? हमारे बालक लक्ष्मी पूजन के समय मयूरवाहिनी का चित्र क्यों काढ़ते हैं? ग्रन्थारम्भ में गणपति तथा सरस्वती का पूजन होता है। उसी प्रकार कोंकण प्रदेश में दशावतारी नामक एक नाटक खेला जाता है। उसमें रंगमंच पर पहला स्वांग गणपति का तथा

दूसरा सरस्वती का आना चाहिए। यह सरस्वती साड़ी पहन कर तथा मोर की पूंछ बांध कर नाचते-नाचते रंगभूमि पर आती है और सूत्रधार को यह आशीर्वाद देकर चली जाती है कि तुम्हारा आयोजित नाटक लोकरंजक तथा यशस्वी हो। तब भी यह प्रश्न होता है कि हंस के स्थान पर मोर ने अपना स्थान कैसे वना लिया ? इसका उत्तर प्राध्यापक गोडे ने इस प्रकार दिया है :

इस दृष्टि से जैन ग्रन्थों का अवलोकन करने से पता चलता है कि जैनों की श्रुतदेवी अथवा विद्यादेवी हमारी सरस्वती जैसी ही है। श्वेताम्बर जैनों की सरस्वती हंसवाहिनी है तो दिगम्बर जैनों की मयूर-वाहिनी है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी समय महाराष्ट्र में दिगम्बर जैनों के प्रभाव के कारण हिन्दुओं में मयूरवाहिनी रूढ़ हो गई।

सरस्वती के ध्यान का प्रसिद्ध श्लोक यह हैं :

"या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता।
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना ।।
या ब्रह्माच्युतशंकरप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता ।
सा यां पातु सरस्वती भगवती निःशेष जाड्या पहा ।।"

सरस्वती का यह ध्यान श्वेतवर्ण है और श्वेत वस्त्रों से ढका है। इसी प्रकार इसका प्राचीन वाहन हंस भी श्वेत वर्ण का होगा। विद्या अथवा ज्ञान सत्वगुणों का कार्य है। सत्व का वर्ण भी श्वेत माना गया है। सरस्वती लक्ष्मी के समान अलंकारों से नहीं झलकती। वह तो अपनी धवल कान्ति और अपने सत्वगुण के सौन्दर्य से हृदय में घर करती है।

ग. ह. खरे का कहना है कि महाराष्ट्र में सरस्वती की मूर्ति आसानी से नहीं मिलती। सरस्वती यदि ब्रह्मा, विष्णु अथवा गणपति की पत्नी होगी तो इस नाते वह उनके वामांग में वीणा लेकर खड़ी होगी। स्वतंत्र होगी तो प्रायः बैठी होगी।

वीणावादिनी

'रूपावतार' ग्रन्थ में यह विधान है कि सरस्वती की मूर्ति बनाते समय उसके हाथ में अक्षमाला, पुस्तक और कमल, ये तीन वस्तुएं देनी चाहिए।

अक्षमाला जप, आवृत्ति अथवा अभ्यास सूचित करती है। स्वाध्याय तथा चिन्तन के बिना विद्या में स्थिरता और गंभीरता नहीं, अक्षमाला के द्वारा इसी तथ्य की अभिव्यक्ति हुई है। पुस्तक सरस्वती का विलास स्थान है और कमल तो सहसा किसी भी देवता का साथ नहीं छोड़ता। श्री, शोभा और मंगल की बातों को सूचित करने वाला प्रतीक सम्राट् है।

आश्विन के शुल्क पक्ष में तथा मूलनक्षत्र में सरस्वती का आह्वान करना, पूर्वाषाढ़ा तथा उत्तराषाढ़ा नक्षत्रों में उसकी पूजा करना और श्रवण नक्षत्र में उसका विसर्जन करना, धर्म-शास्त्र का विधान है। नवरात्रों में आने वाली इन चार तिथियों में घर की समस्त पुस्तकों को झाड़ पोंछ कर इकट्ठा करके उनकी पूजा करने की पद्धति समस्त महाराष्ट्र तथा अन्य प्रान्तों में भी है। ये चार दिन अनध्याय के समझे जाते हैं।

सरस्वती सभी मनुष्यों की उपास्य देवी है। वह दिव्य तथा अव्यय 'परमधाम' है। वह मोहरूपी अन्धकार को नष्ट करके ज्ञान का प्रकाश देती है। बुद्धि की जड़ता को भगाकर उसे

प्रगल्भ वनाती है। विधिपूर्वक उसकी आराधना करने पर वह 'कामधेनु' है। जिह्वा पर दुर्लभ 'मधु' का प्रवाह करती है।

करवदरसदृशमखिलं भुवनतलं या प्रसादतः कवयः।
पश्यंति सूक्ष्ममतयः सा जयति सरस्वती देवी॥

जिस के प्रसाद से कवि-गण अखिल ब्रह्माण्ड को हाथ की हथेली पर बेर के समान देखते और जानते हैं; उस भगवती सरस्वती की जय हो।

१३ / स्वस्तिक

किसी भी मंगल कार्य का प्रारंभ हो अथवा वर-यात्रा का शुभ समय, ऐसे अवसर पर पुरोहित एक मंत्र पढ़ता है। वह मंत्र कानों को तो प्रिय लगता ही है और यदि उसके अर्थ का बोध हो जाय तो उसकी भावना और भी प्रिय लगने लगती है। हृदय में उल्लास और आश्वासन भरने वाला वह मंत्र यह है :

"स्वस्ति न इंद्रो वृद्धश्रवाः
स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः
स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु"

इस मंत्र के प्रत्येक चरण के प्रारंभ में 'स्वस्ति' शब्द आता है। यह शब्द 'सु-अस' धातु से वना है। 'सु' याने अच्छा, कल्याण, मंगल और 'अस' अर्थात् सत्ता या अस्तित्त्व। स्वस्ति याने कल्याण की सत्ता। कल्याण हो, कल्याण होता रहे, कल्याण है—ये भावनाएँ हैं स्वस्तिक की। मंत्रद्रष्टा ऋषि ने उपरोक्त मंत्र में चार देवताओं से प्रार्थना की है। केवल स्वतः के लिए नहीं, समाज के लिए और समस्त लोक के लिए। मंत्र का अर्थ

यह है :—

"महायशस्वी इंद्र हमारा कल्याण करे, विश्व का ज्ञान रखने वाला पूषा हमें कल्याणप्रद हो, जिसके पक्ष कभी नष्ट नहीं होते, ऐसा गरुड़ हमारा मंगल करे और बृहस्पति हमारे कल्याण को परिपुष्ट करे।"

मनुष्य सदैव स्वस्ति-क्षेमपूर्वक रहना चाहता है तथा स्वस्ति-क्षेम देखना पसन्द करता है, ऐसी मान्यता है। स्वस्ति की भावना में ही उसे अपना तथा विश्व का विकास दीखता है। स्वस्ति भावना में ही हृदय का शतदल विकसित अवस्था को प्राप्त होता है। जहाँ-जहाँ श्री, शोभा, सुसंवाद, प्रेम, उल्लास जीवन का सौन्दर्य तथा व्यवहार में सौहार्द उपलब्ध होता है, वहाँ-वहाँ इसी स्वस्ति की सत्ता है।

हृदय में अव्यक्त भावना का प्रतीक है स्वस्तिक। स्वस्तिक अति प्राचीन मानव का बनाया धर्म का सर्वप्रथम प्रतीक है। ऐसा समझा जाता है। जल बरसाने वाला मेघ, मेघों का संचालन करने वाला वायु, प्रकाश और गर्मी देने वाला सूर्य, मनुष्य के भले बुरे व्यवहार तथा शुभ-अशुभ कर्मों पर ध्यान रखने वाला वरुण या उसके समान अन्य कोई देवता, प्राणियों को धारण करने वाली वसुन्धरा, ऐसे अनेक देवताओं का समावेश स्वस्तिक में एकत्र हुआ माना जाता है। देवताओं की शक्ति और मनुष्य की शुभ कामना, इन दोनों के सम्मिलित सामर्थ्य का प्रतीक है स्वस्तिक।

एक खड़ी रेखा और उसके ऊपर दूसरी आड़ी रेखा, मूल रूप में स्वस्तिक की ऐसी ही आकृति थी। खड़ी रेखा ज्योतिर्लिंग की प्रतीक है। ज्योतिर्लिंग विश्वोत्पत्ति का मूल कारण है। वह खड़ी रेखा से बताया गया है। आड़ी रेखा सृष्टि का विस्तार बतलाती है। इस सृष्टि का निर्माण ईश्वर ने किया है और सब

देवताओं ने अपनी-अपनी शक्ति का योग देकर इसका विस्तार किया, यह इस स्वस्तिक का भाव है। यह मूल स्वस्तिक आज भी क्रास के रूप में ईसाई धर्मावलम्बी लोगों की उपासना में देखने को मिलता है।

सर्व साधारण की ऐसी मान्यता है कि महात्मा ईसा को क्रूस पर लटका कर उनका वध किया गया और इसी कारण क्रास ईसाई धर्म का प्रतीक बन गया। परन्तु यह बात सही नहीं। क्रास की उत्पत्ति ईसा के वधस्तम्भ से नहीं। ईसा से हजारों वर्ष पूर्व क्रास का अस्तित्व था और यह संसार के कोने-कोने में पूजा जाता था। ईसा धर्म के अस्तित्व में आने से पूर्व अनेक प्राचीन संस्कृतियों का 'क्रास' को प्रतीक मानने का प्रमाण मिलता है।

मिस्र देश की संस्कृति एक प्राचीन संस्कृति मानी जाती है। उस संस्कृति में 'आइसिस' नामक बड़ा देवता है। आर्यों की अदिति तथा सिन्धु संस्कृति की महामाया के समान वह विश्व-माता है। इस 'आइसिस' का एक चित्र उपलब्ध है। वह गाय के सींगों का मुकुट धारण किये हुए खड़ी है। उसके दाहिने हाथ में क्रास तथा बांए हाथ में छड़ी है। असीरिया की संस्कृति संसार में एक अनोखी संस्कृति है और इसे ही हम असुर संस्कृति कहते हैं। उससे भी क्रास को धर्म के प्रतीक के रूप में मान्यता दी गई है।

बृटिश म्यूजियम में असीरियन गैलरी नाम का एक विभाग है। इस विभाग में 'सस्सीराम्मानु' नाम के एक प्राचीन राजा की पाषाण मूर्ति है। उसकी गर्दन तथा छाती पर कुछ चिन्ह खुदे हैं और वे क्रास के हैं। ये काफी बड़े क्रास हैं। रोमन कैथोलिक कोश में इन्हें 'पैक्टोरल क्रास' कहा है।

क्रास के भी दो प्रकार हैं। एक तो सीधा सादा है। इसमें खड़ी

और आड़ी रेखा अथवा पट्टी के समान लम्वी रेखाएँ होती हैं। वह गणित के धन (+) चिह्न के समान है। इसे यूनानी प्रतीक मानते हैं। दूसरे प्रकार के क्रास में भी दो समान लम्वी पट्टियां होती हैं, लेकिन वे रोमन वर्णमाला के अक्षर एक्स (×) के आकार के समान तिरछी जुड़ी होती है। इसे 'संत एण्ड्रयूज का क्रास' कहते हैं। इस क्रास की चारों भुजाओं के सिरों पर एक एक रेखा जोड़ दी जाय तो भारतीय स्वस्तिक वन जाएगा। असीरियन संस्कृति में क्रास और स्वस्तिक, इन दोनों चिन्हों के संयोग से वना हुआ एक चित्र है।

भारतीय संस्कृति में स्वस्तिक का सम्वन्ध सूर्य नारायण से जोड़ा गया है। क्रास के चारों सिरों को और मध्य भाग को लेकर यदि गोल चक्र वनाया जाए तो वह सूर्य का प्रतीक वन जाता है। एक रोचक वात और है। सीधे क्रास में तिरछा क्रास जोड़ दिया जाय तो उसमें आठ सिरे वन जाते हैं। उसमें आठ त्रिकोणी टोपियां वना दी जाएं तो सुन्दर अष्टदल कमल तैयार हो जायगा। कमल तथा सूर्य का प्रकाश्य और प्रकाशक सम्वन्ध प्रसिद्ध है। यह अष्टदल भी सूर्य का प्रतीक है। विष्णु के हाथ में सुदर्शन चक्र भी वही है। विष्णु ही आदित्य है। प्राणीमात्र को जीवन देने वाला सूर्य ही आगे चलकर विष्णु स्वरूप हो गया और विश्व के प्रतिपालन का कार्य उसे सौंपा गया। सूर्य का प्रतीक जो सुदर्शन है, वह सदैव विष्णु के हाथ में घूमता रहता है। यह इसलिए कि विष्णु के उपासकों को मूल देवता सूर्य का स्मरण होता रहे।

स्वस्तिक की चार भुजाओं का तात्पर्य है विष्णु की चार भुजाएं, और यह अर्थ विना किसी सन्देह के माना जा सकता है। स्वस्तिक का मध्य विन्दु है नारायण का नाभिकमल, जो सृष्टिकर्त्ता व्रह्मा का जन्म स्थान है। इससे यह सूचित होता

है कि स्वस्तिक सर्जनात्मक है। क्रास के बीच में जो आड़ी रेखा है यदि उसके दोनों सिरों को ऊपर की ओर मोड़ दिया जाय तो त्रिशूल बन जाता है और शिव का अस्त्र हो जाता है। शिव के नाम 'शूली' तथा 'शूलपाणि' भी हैं। शिव सृष्टि के संहारकर्त्ता हैं। इस लिए स्वस्तिक का यह त्रिशूलाकार विश्व संहार को सूचित करता है। इस प्रकार सृष्टि-स्थिति-प्रलय, विश्व की ये अवस्थाएं स्वस्तिक की विभिन्न आकृतियों में प्रकट होती हैं। भविष्य पुराण में कहा गया है कि सुदर्शन और त्रिशूल दोनों सूर्य के तेज से निर्मित हुए हैं। प्रत्येक देवता का एक निश्चित आसन होता है। किसी का त्रिकोण रूप, किसी का पंचकोण, किसी का अष्टकोण और किसी का चतुष्कोण। इसमें जो स्वस्तिक है वह चतुष्कोण-आसन वाला है। जमीन पर अथवा तख्ती पर आटे से या रंग से जब चतुष्कोण निर्मित करते हैं तो सूर्य भगवान उसमें अवस्थित हो गए—इस प्रकार की श्रद्धा व्यक्त की जाती है।

कुछ लोग स्वस्तिक को गणपति का भी प्रतीक मानते हैं। ऐसी अवस्था में यह शंका स्वाभाविक है कि वह सूर्य या गणपति, इन दोनों में से किसका प्रतीक है। परन्तु मूल रूप में गणपति भी सूर्य का प्रतीक है। अतएव स्वस्तिक को गणपति का रूप मानने में भी कोई आपत्ति नहीं। अथर्व वेद में गणपति को 'त्वंविष्णुस्त्वंसूर्यः' स्पष्ट रूप में बताया गया है। पूर्व क्षितिज पर रक्तवर्ण सूर्य मण्डल ही गजमुख है। सूर्य के चारों ओर आरे के समान जो दंतुल आवरण है, उसे विज्ञान की भाषा में क्रकचावरण कहते हैं। उसी आवरण में से वायुरूप ज्योतिश्शृंग लाखों मील ऊंचा बाहर निकलता है, वही गणपति की सूंड है। "यह संसार तुमसे उत्पन्न होता है"—अथर्व वेद का यह सूत्र यथार्थ में सूर्य पर लागू होता है। जब स्वस्तिक का

सम्वन्ध गणपति से जुड़ गया तो सूर्य से भी नहीं टूटता।

स्वस्तिक भी दो प्रकार का है, दाहिना और वायां। जिस स्वस्तिक का दाहिनी ओर का सिरा वायीं ओर मुड़ता है और उसी प्रकार शेष तीनों सिरे भी मुड़ते हैं, वह वायां स्वस्तिक है। इसके विपरीत दाहिने सिरे की भुजा दाहिनी ओर मुड़ती है तथा शेष तीनों सिरे भी उसी प्रकार दाहिनी ओर मुड़ते हैं, तो वह दाहिना स्वस्तिक कहलाता है। वायां स्वस्तिक काली का द्योतक है अतएव नारी तत्व का प्रतीक माना जाता है। दाहिना स्वस्तिक गणेश का चिन्ह होने के कारण नर तत्व का प्रतीक माना जाता है। दोनों ही प्रकार के स्वस्तिक संसार के प्रत्येक भाग में मिलते हैं और विभिन्न प्रकार के मंगल भावों को व्यक्त करते हैं। महाराष्ट्र तथा कोंकण प्रदेश में वायां स्वस्तिक प्रचलित है। यह प्रदक्षिणा मार्ग के अनुरूप है। प्रदक्षिणा करते समय हम वांयें चलकर दाहिने हाथ की ओर जाते हैं। तात्पर्य यह है कि हम जिस देवता की परिक्रमा करते हैं, वह सदैव दाहिने हाथ की ओर रहता है। इसे महाराष्ट्र में 'उजवी घालणें' अर्थात सीधी परिक्रमा कहते हैं।

किसी चिन्ह अथवा प्रतीक को जव तत्त्व ज्ञान का आधार मिलता है तव वह संस्कृति के प्रवाह में सदा मिला रहता है। स्वस्तिक का तात्त्विक रहस्य 'सिद्धान्तसार' नामक ग्रन्थ में इस प्रकार वर्णित है :—

"स्वस्तिक का मध्य विन्दु विश्व का गर्भाशय है, इसीका नाम है सत्। यह विन्दु जव रेखाओं में फैलता है और उसका जो व्यास वनता है वह लिंगरूप तत्त्व होता है। यह महायोनि में क्षोभ पैदा करता है और उत्पत्ति के लिए प्रेरित करता है। जव उसकी रेखा त्रिशूल का आकार धारण करती है, तव जड़ और चेतन ऐसे दो भिन्न तत्त्वों का अद्भुत मिश्रण होता है

ग्रौर उनसे नाम-रूपात्मक विश्व का उदय होता है।

दूसरी उपपत्ति ग्रन्य प्रकार से वताई गई है ग्रौर वह भी स्वस्तिक का सृष्टि की रचना से ही सम्वन्ध स्थापित करती है। वैदिक परिभाषा के ग्रनुसार देश ग्रौर काल ये दो यक्ष हैं। इन दोनों की शक्तियां पहले एक दूसरे से टक्कर लेती हैं, संघर्ष करती हैं, ग्रौर ग्रंत में शत्रुता की ग्रपेक्षा प्रेम ग्रच्छा है, ऐसा मानकर परस्पर हाथ मिलाती हैं। ये दोनों तत्त्व जहां पर मिलते हैं, वही स्वस्तिक का धारण विन्दु वनता है। इस विन्दु का नाम 'ग्राभु' ग्रर्थात् ग्रमूर्त सत्तत्त्व है, ग्रौर उसकी भुजाएं 'ग्रभ्व' याने ग्रसत्। ग्रर्थात नाम-रूप से खचाखच भरा हुग्रा जगत्। यह सारा विश्व मानों स्वस्तिक के ग्रालोक से ही ग्रालोकित है। स्वस्तिक का विपर्यास हुग्रा तो समझना चाहिए कि विश्व के विघटन होने में देर नहीं। शंकर के हाथ में जो त्रिशूल है, उसमें स्वस्तिक का विघटन ही व्यक्त किया गया है। स्वस्तिक इस विश्व रूपी विराट महल की नींव का पत्थर है। जनमानस में युग युग से जो श्रद्धा चली ग्रा रही है, उसी श्रद्धा का विकास करके संस्कृति के निर्माताग्रों ने तत्त्व-ज्ञान की परिभाषा में स्वस्तिक की सुव्यवस्थित रचना की।

इसीलिए विवाह के ग्रवसर पर वर-वधु के सामने दीवाल पर तथा पाटीपर स्वस्तिक ग्रङ्कित किया जाता है। जन्म-जन्मान्तर तक सम्वन्ध ग्रविच्छिन्न रहे, इस भावना से ग्रनुप्राणित हो कर वर-वधु ग्रामने-सामने खड़े होकर स्वस्तिक की ग्रोर देखते हैं। कहीं-कहीं नवजात शिशु को छठी के दिन स्वस्तिक से ग्रंकित चादर पर सुलाया जाता है। इसका ग्रभिप्राय उस वालक की ग्रायु पर्यन्त योगक्षेम की कामना करना है। बिछुड़े हुए प्रिय जनों के पुनर्मिलन के हेतु भी स्वस्तिक के पूजन की प्रथा है। स्वस्तिक को शान्ति, मंगल, समृद्धि ग्रादि का प्रतीक

मानकर हजारों सौभाग्यवती गृहिणियां चातुर्मास में स्वस्तिक व्रत का अनुष्ठान करती हैं। इस व्रत में स्वस्तिक बनाकर उसका पूजन करना पड़ता है। पद्मपुराण में कहा गया है कि चातुर्मास में देव प्रतिमा के सामने स्वस्तिक और अष्टदल-कमल की राँगोली निकालने वाली स्त्रियों का सुहाग अखण्ड रहता है।

हिन्दुओं के समान बौद्धों और जैनों ने भी स्वस्तिक को पूज्य माना है। बौद्धों की मान्यता के अनुसार पत्तों और पुष्पों की उत्पत्ति का कारण स्वस्तिक ही है। बौद्ध धर्म की उपासना में स्वस्तिक के अनेक प्रकार मिलते हैं। बौद्ध धर्म का आँचल पकड़कर यह मलाया, जावा और चीन तक पहुंच गया है। चीन में मन्दिरों, सौधगृहों, धवलों, धर्म ग्रन्थों आदि पर स्वस्तिक की आकृति मिलती हैं। बौद्ध मन्दिरों में जलने वाले दीपों पर भी स्वस्तिक विराजमान है।
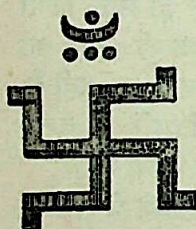
स्वस्तिक

जैन लोग जिस आकृति का स्वस्तिक बनाते हैं वह सामने चित्र में दिया गया है। यह एन्थोवेन ने अपनी 'फोकलोर ऑफ बॉम्बे' नामक पुस्तक में लिखा है। इस आकृति का दिया गया विवरण इस प्रकार है:—

"इसके चारों कोनों से देव, मनुष्य, तिर्यक् (मानुषेतर जीव) और नारकीय, इन चार प्रकार के जीवों का बोध होता है। चित्र में ऊपर की ओर पंक्ति में अंकित तीन बिन्दु ज्ञान, दर्शन और चरित्र इन तीन रत्नों का निदर्शन करते हैं। उन बिन्दुओं के ऊपर अर्द्धचन्द्राकार बिन्दु का तात्पर्य है मुक्ति।

जैन लोग जब देव दर्शन को जाते हैं तब देवता के सामने स्वस्तिक बनाकर उस पर दक्षिणा रखते हैं। जैन नारियों की

तो स्वस्तिक इतना प्रिय है कि देवदर्शन के लिए जाते समय जिन झोलों में चावल आदि ले जाती हैं, उन पर कशीदे आदि के द्वारा स्वस्तिक की आकृति बनाती हैं।

भारतीय शिल्प कला में भी स्वस्तिक का गौरवपूर्ण स्थान है। भारत के अनेक मन्दिर स्वस्तिक की आकृति पर निर्मित किये गए हैं। इसका प्रमुख उदाहरण पुरी का जगन्नाथ मन्दिर है। उसके अन्दर का भाग स्वस्तिक की आकृति का बना हुआ है। काशी में भी एक मन्दिर उसी प्रकार का है। उत्पत्ति से सम्बन्ध होने के कारण किसी प्राचीन मानव-वंशने स्वस्तिक का सम्बन्ध मृत्यु से भी जोड़ा है। श्री इरावती कर्वे ने लिखा है—

"महाराष्ट्र के दक्षिणी भाग में विगत कुछ वर्षों की खुदाई में द्रविड़ों का एक विशेष प्रकार का ताबूत मिला है। बड़े बड़े चपटे पत्थरों को जोड़ कर स्वस्तिक के आकार की पेटी तैयार की गई है जिसमें मृतक के अवशेष रखे मिले हैं।"

भारत ही नहीं, रोम में भी बहुत पुरानी कब्रों में ऐसी ही पेटियाँ पाम्पी नामक नगर में मिली हैं। पाश्चात्य देशों के कुछ मन्दिरों में भी स्वस्तिक शोभित है। बहुत प्राचीन काल से ही स्वस्तिक का सार्वभौम प्रभाव रहा है। मानव निर्मित यह स्वस्तिक अर्थपूर्ण तथा धर्म का आदि-प्रतीक है, यह कहना अत्युक्ति नहीं है। मिस्र, असीरिया, यूरोप आदि देशों की संस्कृति में इसे प्रजनन शक्ति का प्रतीक माना गया है। भारत, चीन इत्यादि पूर्वीय देशों ने स्वस्तिक को सृजन शक्ति का प्रतीक तो माना ही है, किन्तु शाश्वत जीवन और शाश्वत मंगल इन दो तत्वों को और मिला दिया है। अमेरिकन संस्कृति में यह ताप-शाप से मुक्ति का चिन्ह बन गया।

इस प्रकार स्वस्तिक की प्रतिष्ठा विश्व व्यापी है।

हमारा

सांस्कृतिक साहित्य

□

भारतीय संस्कृति

समर्पण और साधना

हमारी नदियां

हमारे संत महात्मा

हिन्दुओं के व्रत और त्योहार

सुभाषित सप्तशती

हिन्दू धर्म

सप्तसरिता

हमारी पुरातन कथाएं

भारत सावित्री (तीन भाग)

हमारी संस्कृति के प्रतीक